मङ्गल समर्पण

10

पण्डितजी के प्रवचन

मङ्गल समर्पण...

तीर्थंकरवत् कहानगुरु की दिव्यवाणी में बरसा जैन धर्म।
गणधरवत् श्री पूज्य श्री ने बतलाया जैन धर्म का मर्म॥
सुख-दुःख तेरा कर्माश्रित नहीं, कर्माधीन नहीं जीवन,
कर्म नहीं टिकते जहाँ निज में, अर्चन निज में अर्पन॥
पुरुषार्थ से काम हो तो मुक्ति है नहीं है बंधन।
कर्म कटावें चक्कर कैसे तेरी सत्ता से भिन्न है द्रव्यकर्म॥
गणधरवत्......

क्या पता कब मौत की आँधी से जीवन दीप बुझे।
देह तो एक ओस कण सी कब गिरे और कब मिटे॥
एक पल में खूब बढ़े और एक पल में सब नशे।
बाहर की घुड़दौड़ छोड़ो तेरी सत्ता से भिन्न है नोकर्म॥
गणधरवत्......

व्यवस्तता हो दूर मन की निवृत्ति राग से हो प्रतिक्षण
राग का सहवास छोड़ो मुक्तिवधु का करो वरण।
स्वयं की आराधना ही व्रत है ये ही संयम
पुण्य-पाप का भेद छोड़ो तेरी सत्ता से भिन्न है भावकर्म॥
गणधरवत्......

वस्तु एक है रूप अनेक हैं स्याद्वाद से सब कुछ जान
चिदानन्द परमानन्दमय तू अभी है तू भी सिद्ध समान।
अनन्ती शक्ति का तू धारी अनन्त गुणों का तू गोदाम
आनन्द का पर्वत चेतन रत्नाकर, अभी है तुझमें केवलज्ञान।
सुख का सागर शान्ति का सागर, दुःख का अकारण तेरा धाम
मुझको मेरा कौतुहल करवाते दोनों जीव महान
तीर्थंकर गणधर की यह जोड़ी अनंत सिद्धों के समान।
पुलकित है अन्तर्मन मेरा, मैंने देखा ऐसा समोशरण।
गणधरवत् श्री पूज्यश्री ने बतलाया जैनधर्म का मर्म।
तीर्थंकरवत् कहान......

– श्रीमती बीना जैन, देहरादून

पूज्य पण्डितजी की प्रेरणा से देहरादून में निर्मित श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर, देहरादून में पण्डितजी ने प्रतिदिन तीन समय अपने प्रवचनों से लम्बे समय तक वहाँ के मुमुक्षुओं को धर्मलाभ दिया। मुमुक्षु मण्डल देहरादून की अति जिज्ञासु एवं स्वाध्यायी बहन श्रीमती बीना जैन ने पण्डितजी के प्रतिदिन के प्रवचनों का सार अपनी डायरी में संग्रहित किया। बहन बीनाजी द्वारा पण्डितजी के प्रवचनों के संकलित अंशों को यहाँ उल्लेखित किया जा रहा है। – ***सम्पादक***

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

सादृश्य अस्तित्व और स्वरूप अस्तित्व

❖ जिनेन्द्रकथित अर्थ के श्रद्धान बिना, धर्म लाभ नहीं होता; निजात्मा की प्राप्ति नहीं होती। भले ही करोड़ों वर्ष तक उपवास करें, व्रतादि पाले, क्योंकि शरीर की क्रिया व शुभभाव से धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। जिनेन्द्र भगवान के कहे अनुसार वस्तुस्वरूप का निर्णय करते ही, स्व-पर का विवेक करते ही, धर्म की प्राप्ति हो जाती है।

अब परिभ्रमण के अभाव के लिये करना क्या ?

❖ सत्ता संयुक्त सविशेष पदार्थों की श्रद्धा करना।

सत्ता संयुक्त, अर्थात् महासत्ता – 1. अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं हैं। यह सभी पदार्थों की समानता की बात है, सादृश्य अस्तित्व की बात है।

❖ जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक, और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण में एक ही समय में एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण ध्रौव्य रहता है। इसी प्रकार छहों द्रव्यरूप विश्व की सत्ता है।

❖ इस महासत्ता को जानने से लाभ क्या रहा ?

इस विश्व में प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता में विराज रहा है; सबके पास बराबर माल/खजाना है। एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य में कोई प्रयोजन नहीं है। सत् कहते ही महासत्ता व अवान्तरसत्ता, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की भिन्नता ज्ञान

जो जीव, कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के इन समयसार-प्रवचनसार इत्यादि परमागम शास्त्रों का सद्गुरुगम से महिमा लाकर, स्वच्छन्दता को छोड़कर, आत्महित की बुद्धि से और इसमें अपूर्व स्वभाव की बात है, इस प्रकार स्वभाव के लक्ष्य से निरन्तर अभ्यास करेगा, वह अल्प काल में परमपद को प्राप्त करेगा और स्वयं ही अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्दरूप हो जाएगा।

मङ्गल समर्पण

में आनी चाहिए। अरे! मैं साक्षात् भगवान हूँ; विश्व में जितने द्रव्य हैं, कायम रहकर पलटना उनका स्वभाव है, तो उसी समय अनादिकालीन पर में कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य की खोटी बुद्धि का अभाव हो जाता है। ज्ञानी, महात्मा, धर्मात्मा बन जाता है।

❖ यदि इस प्रकार छह द्रव्यों की भिन्नता की श्रद्धा तो करे ना, और वेश धारण कर लें, वह श्रमण नहीं है, संसार का नेता है।

किस प्रकार समझना?

❖ सादृश्य अस्तित्व, अभेददृष्टि व महासत्ता की दृष्टि से विश्व का प्रत्येक द्रव्य, समान हैं। किस प्रकार? सब अनन्त सामान्यगुणों, अनन्त विशेषगुणों, एक-एक व्यंजनपर्याय और अनन्त-अनन्त अर्थपर्यायों के मालिक हैं।

कौन-कौन से द्रव्य?

सभी द्रव्य। किन्तु.........

❖ इस समानता के होते हुए भी ज्ञानी को दूध-पानी की तरह, वस्त्र-मैल की तरह, ताँबा-पीतल की तरह, सोने व खोट की तरह, चेतन व अचेतन पदार्थ भिन्न-भिन्न अनुभव में आते हैं। किस कारण? भेद-विज्ञान से। भेद-विज्ञान क्या है? सब द्रव्यों में समानता होने पर भी, अवान्तरसत्ता के द्वारा भिन्न-भिन्न जानने में आते हैं। जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन न पाया जाये, वे सब अजीवतत्त्व हैं — ऐसा जिसके श्रद्धान, ज्ञान है - वही श्रमण है, मुनि है, मोक्षमार्गी है, मोक्ष का पथिक है।

❖ मुझे मोक्ष की प्राप्ति के लिये क्या करना?

मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना, क्योंकि मैं कैलाशचन्द्र हूँ, जो ऐसे ही व्यवहार की श्रद्धा करता है, वह चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है।

❖ (कैलाशचन्द्र शरीर) से सर्वथा भिन्न, मैं ज्ञायक भगवान हूँ - ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना क्योंकि जो मैं (कैलाशचन्द्र) हूँ — ऐसी श्रद्धा छोड़कर, मैं

'दंसण भूमिह बाहिरा, जिस वयरूंक्खण हुन्ति' — हे जीव! सम्यग्दर्शन भूमि के बिना, व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता है। यहाँ पर भी चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन कहा है।
- श्री योगीन्दुदेव

ज्ञायक भगवान हूँ – ऐसी श्रद्धा करता है, वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है।

❖ श्री प्रवचनसार, गाथा 91 में प्रत्येक द्रव्य की भिन्नता का प्रयोजन, सादृश्य अस्तित्व व स्वरूप अस्तित्व के द्वारा सिद्ध किया है।

❖ सादृश्य अस्तित्व व स्वरूप अस्तित्व का प्रयोजन क्या है ?

1– सादृश्य अस्तित्व से सब द्रव्यों की समानता सिद्ध होती है।

2– स्वरूप अस्तित्व से स्व–पर का विवेक सिद्ध होता है।

3– जो पुरुष एक द्रव्य को, दूसरे द्रव्य में मिलाता है, वह द्रव्यलिंग से आत्मा को दबाता है।

4– स्व–पर के विवेक की सिद्धि हुए बिना, द्रव्यलिंग धारण करने पर भी धर्म की प्राप्ति नहीं होगी।

5– रागरहित आत्मा की प्राप्ति ही धर्म है।

❖ प्रत्येक द्रव्य, अपनी मर्यादा में रहकर परिणमन कर रहा है – जो ऐसी भिन्नता ही स्वीकार नहीं करता, वह तो जैन ही नहीं है। मुनि कहाँ से होगा? महासत्ता व अवान्तरसत्ता का निर्णय होते ही धर्म की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार जिसे रेत व स्वर्णकणों का अन्तर ज्ञात नहीं है, वह चाहे मनों धूल को धोये तो भी स्वर्ण लाभ नहीं होता; उसी प्रकार जिसे शुभभाव व वीतरागभाव का अन्तर ज्ञात नहीं है, वह चाहे, व्रत पाले, उपवास करे, करोड़ों रुपया दान में दे, तो भी निरूपराग धर्म की प्राप्ति नहीं होती। जो छहों द्रव्यों की भिन्नता की सादृश्य अस्तित्व व स्वरूप अस्तित्व द्वारा श्रद्धा करता है, उसका उसी समय मोक्ष का दरवाजा खुल गया।

❖ जिसने आत्मा को जाना नहीं, शुभभाव से ही धर्म होना मानता है, उसे श्री समयसार–गाथा 154 में नपुंसक कहा है। वह अपनी आत्मा का आश्रय करने के लिये ना–लायक है। जिसे स्व–पर का विवेक नहीं है, चाहे जितनी द्रव्यमुनित्व की क्रियाओं का कष्ट उठाने पर भी, धर्म की प्राप्ति नहीं होती — 'मुनिव्रत धार अनन्तबार, ग्रीवक उपजायो, पैं निज आत्मज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।'

❖ धर्म क्या है ?

देखो भाई! आत्मस्वभाव को समझ लेना ही अपूर्व वस्तु है। अनन्त काल में सब कुछ किया है परन्तु अपना आत्मस्वभाव क्या है? — वह नहीं समझा। इस जीवन में यही करने योग्य है। इसके बिना, जीवन में जो कुछ करे, वह सब व्यर्थ है, अर्थात् आत्मा को संसार का कारण है। अनन्त काल से आत्मा को नहीं समझा है, इसलिए उसके लिए अपार रुचि होना चाहिए। रुचि के बिना, पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

सम्यग्दर्शन के बिना, चारित्र होता है - ऐसी शङ्का नहीं करनी और अज्ञानी संयमी देखने में आता है - ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि संयमरूपी कार्य का कारणभूत सम्यग्दर्शन है और जहाँ सम्यग्दर्शन का अभाव होता है, वहाँ भावसंयमी कभी नहीं होता है और द्रव्यसंयम हो तो वह अज्ञानी की और बन्ध की पद्धति में है।

- आचार्य वीरसेनस्वामी

शुभभाव व शरीर की क्रिया, धर्म नहीं है। साम्यभाव, धर्म है। मोह-क्षोभरहित आतमपरिणाम ही धर्म है। सम्यग्दर्शनरूप धर्म आत्मा ही है, श्रावकपना धर्मरूप आत्मा ही है। मुनिपना, श्रेणी, अरहन्त व सिद्धदशा धर्मरूप आत्मा ही है। मुझ आत्मस्वभाव ही धर्म है, अर्थात् मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ।

❖ साक्षात् धर्मस्वरूप निजात्मा का आश्रय कैसे हो?

श्री प्रवचनसार, गाथा 154 में कहा है — मनुष्य, देव इत्यादि अनेक द्रव्यात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में भी जीव का स्वरूप अस्तित्व और प्रत्येक परमाणु का स्वरूप अस्तित्व, सर्वथा भिन्न है। सूक्ष्मता से देखने पर, जीव-पुद्गल का द्रव्य-गुण-पर्याय व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप स्पष्टता से भिन्न-भिन्न जाना जा सकता है। स्व-पर का विवेक प्रगट करने के लिये, जीव के स्वरूप अस्तित्व को पद-पद पर लक्ष्य में लेना योग्य है। यह जानने में आता हुआ चेतन उत्पाद -व्यय-ध्रौव्य, व चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय जिसका स्वभाव है, ऐसा मैं, इस कैलाशचन्द्र पुद्गल से भिन्न रहा, और यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय व अचेतन उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जिसका स्वभाव है, ऐसा (कैलाशचन्द्र) पुद्गल, मुझ आत्मा से भिन्न रहा — ऐसा जानते-मानते ही साक्षात् धर्मस्वरूप निजात्मा की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् पर्याय में भी वीतरागधर्म की प्राप्ति हो जाती है।

❖ सदैव याद रखना है —

1. मैं जीवतत्त्व हूँ, अजीवतत्त्व नहीं हूँ।
2. सामान्य में से विशेष आता है।
3. जितना कुछ दिखता है, सर्वथा पुद्गल का कार्य है; मुझ आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

उपरोक्त प्रवचन का प्रश्न-उत्तर द्वारा स्पष्टीकरण

प्रश्न - श्री प्रवचनसार, गाथा 91 में धर्म की प्राप्ति का उपाय क्या बताया है?

उत्तर - जिनेन्द्र भगवान के कहे अनुसार वस्तु स्वरूप का निर्णय करते ही

धर्म की प्राप्ति होती है। जिनेन्द्रोक्त पदार्थों के श्रद्धान बिना, करोड़ों वर्षों तक उपवास करें, व्रतादि पाले, शरीर की क्रिया व शुभभाव करे तो भी धर्म का अवकाश नहीं; अतः सर्व प्रथम सत्तासंयुक्त **सविशेष** पदार्थों की श्रद्धा करना, क्योंकि सम्यकश्रद्धा से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

प्रश्न – सत्तासंयुक्त **सविशेष** पदार्थों की श्रद्धा से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – (1) सत्तासंयुक्त कहो, अभेददृष्टि कहो, महासत्ता कहो, सादृश्य अस्तित्व कहो – एक ही बात है। (2) सविशेष सत्ता कहो, अवान्तरसत्ता कहो, भेददृष्टि कहो, स्वरूप अस्तित्व कहो — एक ही बात है।

प्रश्न – सादृश्य अस्तित्व से क्या सिद्ध होता है ?

उत्तर – सादृश्य अस्तित्व से सब द्रव्यों की समानता सिद्ध होती है।

प्रश्न – समस्त द्रव्यों में समानता किस प्रकार है ?

उत्तर – (1) 'अनादि-निधन वस्तुएँ (समस्त द्रव्य), भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होता।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 52)

(2) इस विश्व के समस्त द्रव्य-अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुणों, अनन्त विशेषगुणों, एक-एक व्यंजनपर्याय और अनन्त-अनन्त अर्थपर्यायों सहित, अपनी -अपनी सत्ता में विराजते हैं।

(3) इस विश्व के जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक, और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण में एक ही समय में एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण, ध्रौव्य रहता है — इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के गुण में हो चुका है, हो रहा है और होता रहेगा। *(श्री प्रवचनसार, गाथा 93)*

(4) प्रत्येक द्रव्य, अपने गुण-पर्याय का ही स्पर्श करता है।

(श्री समयसार, गाथा 3)

जिन्हें आत्मा की रुचि हो, उन प्रत्येक जीवों को आत्मा समझ में आने योग्य है। 'यह सूक्ष्म है' — ऐसा कहकर उसे समझने का प्रयत्न ही छोड़ देना – वह तो आत्मा की अरुचि और अनन्त संसार में परिभ्रमण का कारण है।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

श्रद्धान, वह सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व, चारित्र का कारण है। जहाँ कारण न हो, तहाँ भावचारित्र (भावसंयम) प्रकट होय ही कहाँ से। जीव ने अनन्त बार द्रव्यसंयम धारण किया और संसार बढ़ाया और अब मनुष्यभव पा करके भी ऐसा ही करे, तो संसार वृद्धिगत होता है। सम्यग्दृष्टि सदा रागवर्जक है, जबकि मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, द्रव्यसंयमी रागवर्धक है।

– **श्रीसमयसार, छहढाला, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आदि से**

सादृश्य अस्तित्व द्वारा निश्चित समानता छहों द्रव्यरूप विश्व को, महासत्ता को सदैव स्थिर रखती है, क्योंकि सादृश्य अस्तित्व प्रत्येक वस्तु की समानता के साथ –साथ प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता का भी घोतक है।

(श्री प्रवचनसार, गाथा 93)

प्रश्न – स्वरूप अस्तित्व से क्या सिद्ध होता है ?

उत्तर – स्वरूप अस्तित्व से स्व–पर की भिन्नता सिद्ध होती है। छहों जाति के द्रव्यों को उनके स्व –स्व लक्षणों से भिन्न–भिन्न ज्ञान में लेना ही स्वरूप अस्तित्व को जानने का प्रयोजन है।

प्रश्न – स्वरूप अस्तित्व से स्व-पर की भिन्नता किस प्रकार सिद्ध होती है ?

उत्तर – सादृश्य अस्तित्व से प्रत्येक द्रव्य में समानता होने पर भी, स्वरूप अस्तित्व द्वारा प्रत्येक द्रव्य भिन्न–भिन्न जानने में आते हैं। किस प्रकार ?

(1) इस विश्व में जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव, अस्तित्व–वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्य–गुणों; ज्ञान–दर्शन आदि अनन्त विशेषगुणों; एक–व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायों सहित निज स्वरूप अस्तित्व में विराजता है।

(2) इस विश्व में पुद्गल अनन्तानन्त हैं। प्रत्येक परमाणु, अस्तित्व–वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुणों; स्पर्श–रस–गन्ध–वर्ण आदि अनन्त विशेषगुणों; एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायों सहित, अपनी सत्ता, अर्थात् स्वरूप अस्तित्व में विराजता है।

(3) इस विश्व में एक धर्म नाम का द्रव्य है, जोकि अस्तित्व–वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुणों; गतिहेतुत्व आदि अनन्त विशेषगुणों, एक स्वभावव्यंजनपर्याय और अनन्त स्वभावअर्थपर्यायों रूप निज स्वरूप अस्तित्व में त्रिकाल विराजता है।

(4) इस विश्व में एक अधर्म नाम का द्रव्य है, जोकि अस्तित्व–वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुणों; स्थितिहेतुत्व आदि अनन्त विशेषगुणों; एक स्वभावव्यंजनपर्याय और अनन्त स्वभावअर्थ–पर्यायोंरूप, निज स्वरूप अस्तित्व में त्रिकाल विराजता है।

(5) इस विश्व में एक आकाश नाम का द्रव्य है, जोकि अस्तित्व–

वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुणों; अवगाहनहेतुत्व आदि अनन्त विशेषगुणों; एक स्वभावव्यंजनपर्याय और अनन्त स्वभावअर्थ-पर्यायों रूप, निज स्वरूप अस्तित्व में त्रिकाल विराजता है।

(6) इस विश्व में लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य हैं। प्रत्येक कालाणु, अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुणों; परिणमन-हेतुत्व आदि अनन्त विशेषगुणों; एक-एक स्वभावव्यंजनपर्याय और अनन्त-अनन्त स्वभावअर्थपर्यायों सहित, अपने-अपने स्वरूप अस्तित्व में त्रिकाल विराजता है।

इस प्रकार स्वरूप अस्तित्व से प्रत्येक द्रव्य की भिन्न-भिन्न सत्ता स्पष्ट ख्याल में आती है।

प्रश्न - स्वरूप अस्तित्व को जानने का फल क्या है?

उत्तर - जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाए, वह जीवतत्व मैं हूँ। जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है — ऐसे मुझ निजात्मा के अलावा अनन्त जीवों से, अनन्तानन्त पुद्गलों से, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक, व कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात द्रव्यों से - मुझ जीवतत्त्व का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानने-मानते ही स्व-पर का विवेक प्रगट हो जाता है, धर्म का प्रारम्भ हो जाता है, महात्मा बन जाता है, निरूपराग आत्मधर्म की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न - सादृश्य अस्तित्व व स्वरूप अस्तित्व को न जानने-मानने का परिणाम क्या है?

उत्तर - जो जीव, सादृश्य अस्तित्व व स्वरूप अस्तित्व द्वारा पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता, वह एक द्रव्य को, दूसरे द्रव्य में ही मिलाता रहता है। द्रव्यलिङ्ग धारण करने पर भी उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

प्रश्न - श्री प्रवचनसार, 91 गाथा में धर्म किसे कहा है?

उत्तर - शुभभाव व शरीर की क्रिया, धर्म नहीं है। साम्यभाव, वह धर्म है। वीतरागभाव, मोह-क्षोभरहित आतमपरिणाम ही धर्म है, परन्तु सम्यग्दर्शन धर्मरूप, श्रावकपना धर्मरूप, मुनिपना धर्मरूप, श्रेणी-अरहन्त व सिद्धदशा धर्मरूप, मुझ आत्मा ही तो परिणमित हुआ है; अतः 'मैं ही साक्षात् धर्म हूँ' — ऐसा अन्त में आचार्य भगवान प्रसन्नतापूर्वक ऐलान करते हैं।

अहो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव की क्या बात करें! कुन्दकुन्दाचार्य देव तो भगवान कहलाते हैं! उनका वचन, अर्थात् केवली का वचन। अन्तर में अध्यात्म का स्रोत उमड़ रहा था, एकदम केवलज्ञान की तैयारी थी; वीतरागभाव से अन्तर में स्थिर होते-होते फिर छद्मस्थदशा में रह गये और विकल्प उठने से महान शास्त्रों की रचना हो गयी।

मङ्गल समर्पण

प्रश्न – साक्षात धर्मस्वरूप निज आत्मा के आश्रय का उपाय श्री प्रवचनसार, गाथा 154 में क्या बताया है ?

उत्तर – सूक्ष्मता से देखने पर, जीव-पुद्गल का द्रव्य-गुण-पर्याय व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव स्पष्टतया भिन्न-भिन्न जाना जा सकता है। निजात्मा का अनुभव करने के लिये स्वरूप अस्तित्व को पद-पद पर लक्ष्य में लेना योग्य है। किस प्रकार ? यह जानने में आता हुआ हुआ चेतन द्रव्य-गुण पर्याय व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जिसका स्वभाव है ऐसा मैं, इस कैलाशचन्द्र पुद्गल से भिन्न रहा और यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जिसका स्वभाव है, ऐसा यह अचेतन (कैलाशचन्द्र) पुद्गल, मुझ आत्मा से भिन्न रहा। इस प्रकार निज स्वरूप अस्तित्व को लक्ष्य में लेते ही साक्षात् धर्म स्वरूप निजात्मा का अनुभव होता है, मोक्ष का दरवाजा खुला जाता है।

प्रश्न – किस जीव को कभी भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती और किसे होती है ?

उत्तर – उसी प्रकार जिसे स्व-पर का विवेक नहीं है, वह चाहे कितनी शरीर की क्रिया करे, उपवास करे, शुभभाव करे, करोड़ों रुपया दान में दे, उसको कभी धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

जो स्व-पर का विवेक करता है, उसका मोह उसी समय क्षय हो जाता है, उसी समय धर्म की प्राप्ति होती है; अत: छहों द्रव्यों की भिन्नता की सादृश्य अस्तित्व व स्वरूप अस्तित्व द्वारा श्रद्धा करना ही मुझ आत्मा का परम कर्तव्य है क्योंकि इस सम्यक्श्रद्धा से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

(श्री प्रवचनसार, गाथा 91 से)

सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोहवश लेश भी संयम ना होय, तो भी सुरनाथ पूजते हैं (सम्मान करते हैं।)

– पण्डित दौलतराम

दिनाँक 9 अप्रैल 1994

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

बन्ध और निर्बन्ध का स्पष्टीकरण

सदैव याद रखना है —

कर्ता-कर्मसम्बन्ध एक द्रव्य का उसकी पर्याय में ही होता है।

जीव, मात्र भाव ही कर सकता है; परद्रव्य में कुछ भी नहीं कर सकता है। जैसे, हिंसा में मारने का भाव हो परन्तु अन्य जीव अपनी आयु का क्षय हुए बिना मरता नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव वृथा ही अपने द्वेषभाव से पाप बाँधता है। अंहिसा में बचाने का भाव हो परन्तु अन्य जीव आयु शेष हुए बिना जीता नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव वृथा ही प्रशस्तराग परिणति से पुण्य बाँधता है, अर्थात् पुण्य-पाप दोनों ही भावों से बँधता है। निर्बन्ध कब होता है ? निजात्मा के आश्रय से पूर्ण वीतरागभाव प्रगट हो, तभी निर्बन्ध होता है।

साधकदशा रहने तक भी जीव को प्रशस्तरागरूप प्रवर्तन होता है परन्तु श्रद्धान में ज्ञानी, पुण्य-पाप दोनों को ही बन्ध का कारण, हेय जानता है; मोक्षमार्ग नहीं मानता, उसकी दृष्टि निरन्तर स्वभाव पर रहती है; अत: पुण्य-पापभावों का सर्वथा अभाव करके, पूर्ण वीतरागदशा प्रगट करके सर्वथा निर्बन्ध हो जाता है।

प्रश्न – बन्ध कब तक होता है; निर्बन्ध कब होता है।

उत्तर – पुण्य व पाप दोनों ही भाव, बन्ध के कारण हैं; अत: जब तक पुण्य-पापभाव, पर्याय में रहते हैं, तब तक जीव बँधता ही रहता है। बारहवाँ गुणस्थान प्रगट होने पर, अर्थात् पूर्ण वीतरागदशा प्रगट होते ही जीव सर्वथा निर्बन्ध हो जाता है। *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 226)*

एक जीव, सत्य की रुचिपूर्वक 'हाँ' कहता है और दूसरा 'ना' कहता है तो दोनों में कितना अन्तर है ? सत्य को स्वीकार करनेवाला जीव, अपनी मान्यता में तीनों काल के सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करता है और अस्वीकार करनेवाला जीव, अपनी मान्यता में तीन काल के असत्य का ग्रहण और सत्य का त्याग करता है। यह अन्तरंग ग्रहण-त्याग, अज्ञानियों को दिखायी नहीं देता और बाह्य पदार्थों के ग्रहण-त्याग का अभिमान करते हैं।

मङ्गल समर्पण

'ऐसे दर्शनमोहनीय के अभावतैं सत्यार्थ श्रद्धान, सत्यार्थ ज्ञान प्रगट होय है और अनन्तानुबन्धी के अभावतैं स्वरूपाचरणचारित्र सम्यग्दृष्टि के प्रगट होय है।'

– **पण्डित सदासुखदास**

कब होता है धर्म .....

1. श्री प्रवचनसार, गाथा 92 में चार बातों का स्पष्टीकरण है —

1. जो आगम में कुशल हैं;
2. जिनकी मोहदृष्टि हत हो गयी है;
3. जो वीतरागचारित्र में आरूढ़ हैं;
4. उस महात्मा श्रमण को मुनि कहा गया है।

2. आगम में कुशल कौन है ?

वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाला मुमुक्षु जीव ही आगम में कुशल है।

3. वस्तुस्वरूप क्या है ?

'अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती' — ऐसा वस्तुस्वरूप का मानसिकज्ञान में निर्णय किया, वह आगम में कुशल है; उसी समय, उसी क्षण उसकी मोहदृष्टि हत हो गयी है, उसी समय वीतरागचारित्र पर आरूढ़ हो जावेगा, वह महात्मा स्वयं ही धर्म है।

4. किस महात्मा को धर्म कहा है ?

मैं जीवतत्त्व हूँ, अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा निर्णय जिसने किया, वही आगम में कुशल है; उसी क्षण उसकी मोहदृष्टि नाश हो जाती है, उसी क्षण वीतरागचारित्र पर आरूढ़ हो जाता है - ऐसा जीव ही महात्मा है, स्वयं धर्म है।

5. 'प्रत्येक द्रव्य अपने में अर्न्तमग्न रहनेवाले अनन्त धर्मों के चक्र को, समूह को स्पर्श करता है तथापि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का सर्वथा स्पर्श नहीं करता' — ऐसा वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाला जीव ही आगम में कुशल है; उसी क्षण मोहदृष्टि नाश हो गयी, चौबीस घण्टे वीतरागचारित्र पर आरूढ़ रहता है और स्वयं ही धर्मरूप हो जाता है।

6. जो, 'मैं कैलाशचन्द्र हूँ' — ऐसे व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसे निश्चयनय का श्रद्धान करता है — वह योगी, आगम में कुशल है, उसी क्षण उसके मोह का अभाव हो जाता है, चौबीस घण्टे अपने कार्य

में जागता है, अर्थात् वीतरागचारित्र पर आरूढ़ रहता है, उसी महात्मा श्रमण को धर्म कहा है; इसीलिए छहढ़ाला में कहा है —

तातें जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजे।

संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजै॥

7. जैसे, राजा श्रेणिक नरक में पड़े हैं, आगम में कुशल हैं। यहीं कुशल हो गये थे, क्योंकि यहीं मोहदृष्टि हत हो गयी थी। नरक में रहते हुए भी चौबीस घण्टे वीतरागचारित्र (स्वरूपाचरणचारित्र) में आरूढ़ हैं। राजा श्रेणिक स्वयं धर्मरूप हो गये हैं।

8. मुझे आगम में कुशलता कैसे प्राप्त हो ?

1. कैलाशचन्द्र जैन नामक शरीर से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। सुबह से शाम तक का, प्रत्येक कार्य सर्वथा पुद्गल का है; मुझ आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं — ऐसा निर्णय होते ही आगम में कुशलता की प्राप्ति हो जाती है।

2. प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्याय का ही स्पर्श करती है; एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का सर्वथा स्पर्श नहीं करता — ऐसा निर्णय करते ही आगम में कुशल हो जाता है।

9. आज तक आगम में कुशलता प्राप्त क्यों नहीं हुई ?

सर्व प्रथम तो मनुष्यभव मिलना ही दुर्लभ है। मनुष्यभव भी प्राप्त किया तो प्रथम तो तत्त्वनिश्चय करने का उपाय कोई करता ही नहीं। यदि कोई तत्त्वनिश्चय करने का उपाय विचारता है तो कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का निमित्त बने तो अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट हो जाता है। वस्तुस्वरूप का विचार करने का उधमी हुआ था, परन्तु विपरीत विचार में दृढ़ हो जाता है कि शुभभाव करो, सामायिक करो, व्रत करो, उपवास करो - तब धर्म होगा।

10. महाभाग्य से यदि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का भी निमित्त बने तो उनके निश्चय उपदेश का तो श्रद्धान नहीं करता, व्यवहारश्रद्धान से अतत्त्व श्रद्धानी ही रहता है।

निश्चय उपदेश क्या है ?

प्रत्येक द्रव्य, का कायम रहकर बदलना उसका स्वभाव है। अपनी आत्मा

अहो! जगत के जीव, अपने चैतन्यसुख को भूलकर विषय - कषायों में सुख मान रहे हैं। विषय-कषाय की रुचिवाले जीव, जिसके पास अधिक लक्ष्मी आदि के संयोग हों, उसे अधिक सुखी मानते हैं; उससे 'सेठजी' आदि कहकर अन्तर से उसका बहुमान करते हैं परन्तु अपनी जो चैतन्यजाति है-ज्ञानस्वभाव की सम्पत्ति है, उसको संभालने का जिन्हें अवकाश नहीं है; चैतन्यलक्ष्मी को भूलकर बाह्य में सुख मान रहे हैं, वैसे जीवों को ज्ञानीजन 'सेठ' (श्रेष्ठ) नहीं कहते, लक्ष्मी के 'बेगारी' कहते हैं।

मङ्गल समर्पण

के आश्रय से ही धर्म होता है। — इत्यादि इन निश्चय उपदेशों का तो श्रद्धान नहीं करता और देव-गुरु-शास्त्र के आश्रय से धर्म होता है, परस्परोपग्रहों जीवानाम् आदि व्यवहारनय के श्रद्धान से अतत्त्व श्रद्धानी रहता है। एक द्रव्य का, दूसरे द्रव्य से सम्बन्ध नहीं है - ऐसे निश्चय का श्रद्धान नहीं करता है। हम तुम्हारे, तुम हमारे — ऐसे ही श्रद्धान में दृढ़ रहने से आगम में कुशलता प्राप्त नहीं करता, मोहदृष्टि का नाश नहीं होता, वीतरागचारित्र पर आरूढ़ नहीं होता, धर्मात्मा नहीं बनता; ठग ही बना रहता है।

11. धर्मात्मा कैसे बनें ?

जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान-ज्ञान हो जाए तो सर्व दुःख दूर हो जाएँ। प्रत्येक द्रव्य अपने अनन्त सामान्यगुणों, अनन्त विशेषगुणों, एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायों सहित रहता है — ऐसी पदार्थों की व्यवस्था का ज्ञान हो जाए तो सर्व दुःख दूर हो जाएँ। शरीर अभी मुर्दा है, आत्मा निकलने के बाद की बात नहीं है; जैसे, दूध-पानी मिले दिखने पर भी, दोनों अलग-अलग हैं; तेल और तिल इसी समय अलग हैं; सोना और खोट इसी समय अलग-अलग हैं; इसी प्रकार मुझ आत्मा और शरीर, आकाश की अपेक्षा एक क्षेत्र में रहते दिखते हैं लेकिन दोनों इसी समय अलग-अलग हैं। मुझ आत्मा और कैलाशचन्द्र नामक शरीर, दोनों की जाति अलग-अलग है, मैं (कैलाशचन्द्र) हूँ — यह भ्रम हैं। इसी भ्रम के कारण आज तक धर्मात्मा बना नहीं। भ्रमजनित दुःख का उपाय भ्रम दूर करना ही है। मैं आत्मा हूँ; (कैलाशचन्द्र) नहीं हूँ — ऐसा श्रद्धान-ज्ञान होते ही आगम में कुशलता, मोहदृष्टि का नाश, वीतरागचारित्र में आरूढ़ता हो जाती है, अर्थात् धर्मात्मा बन जाता है।

12. मुझ आत्मा का मनोरथ क्या होना चाहिए ?

मुझ आत्मा स्वयं धर्म हो, यही वास्तव में मनोरथ है। इस मनोरथ में विघ्न डालनेवाली एकमात्र बहिर्मोहदृष्टि है।

13. बहिर्मोहदृष्टि क्या है ?

A- अजीवतत्त्व को अपना मानना;

B- मैं परद्रव्यों का परिणमन करता हूँ;

C- पाँच इन्द्रिय के विषयों से सुख; ज्ञेयों से-इन्द्रियों से ज्ञान होना मानना;

शुद्धात्मानुभव से अविनाभावी चारित्र विशेष को स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं।
– पण्डित गोपालदास बरैया

D- निमित्त से उपादान में कार्य होना मानना;

E- शुभभाव से ही धर्म होता है, इत्यादि मान्यताएँ बहिर्मोहदृष्टि हैं;

14. बहिर्मोहदृष्टि का अभाव कैसे होगा ?

'अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं।'

'मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ' — ऐसा निर्णय होते ही बहिर्मोहदृष्टि का अभाव हो जाता है। उसी क्षण आगम में कुशल, उसी क्षण मोहदृष्टि का अभाव, उसी क्षण वीतरागचारित्र में आरूढ़, उसी क्षण धर्मात्मा बन गया। यही तो वस्तुस्वरूप है — प्रत्येक कार्य में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य और निमित्त — यह चारों बातें एक साथ ही होती हैं।

15. जिसको एक बार बहिर्मोहदृष्टि का अभाव हो गया है, उसको आगम की कुशलता व आतमज्ञान का, वीतरागचारित्र का इतना जोर है। किस कारण? दृष्टि निरन्तर स्वभाव पर रहने से नि:शंक होकर घोषणा करते हैं कि यह बहिर्मोहदृष्टि अब मुझमें पुन: उत्पन्न नहीं होगी।

16. स्याद्वाद की छापवाला जिनेन्द्र का द्रव्यश्रुत क्या है ?

मैं अपने से हूँ; पर से नहीं हूँ;

मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ — ऐसे स्याद्वाद मुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म का निर्णय होते ही, आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है, मोहग्रन्थि का नाश हो जाता है, परम वीतरागचारित्ररूप शुद्धोपयोगदशा की प्राप्ति हो जाती है, जिसके प्रसाद से यह आत्मा, स्वयंमेव धर्म हुआ है। *(श्री प्रवचनसार, गाथा 92 पर)*

मैं ज्ञानमात्र हूँ; इसके अतिरिक्त पर का एक अंश भी मेरा नहीं हैं — ऐसा माननेवाले जीव वास्तव में अपरिग्रही हैं। उन्हें बाह्य में चक्रवर्ती के राज्य का संयोग होने पर भी, अन्तर के अभिप्राय में एक अंश को भी अपना नहीं मानते, ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अंशमात्र भी एकता नहीं मानते, इससे ज्ञानी उन्हें निष्परिग्रही कहते हैं और जिसने आत्मस्वभाव में एकता प्रगट नहीं की है तथा बाह्य पदार्थों में अंशमात्र भी एकता है, वह जीव बाह्य में त्यागी हो, तथापि अनन्त परिग्रही है।

मङ्गल समर्पण

मिथ्यात्व, रागादि संसरणरूप भावसंसार में पड़ते प्राणियों को उद्धार कर, निर्विकार शुद्ध चैतन्य को प्राप्त करे, वह धर्म है।

- आचार्य जयसेन

दिनाँक 10 अप्रैल 1994

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

मोह क्षय का अचूक उपाय ....

श्री प्रवचनसार, दिव्यध्वनि का सार है।

देव-गुरु-शास्त्र को किसने जाना? जिसने अपने को जाना। अपने को जानते ही समस्त जिनशासन का पता चल जाता है।

मोह की सेना को जीतने का उपाय क्या है? (1) जो अरहन्त को द्रव्य-गुण-पर्यायपने जानता है, उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त हो जाता है। जिसने अरहन्त भगवान को निमित्तरूप माना कि —

जो - जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ नहीं होत, काहे होत अधीरा रे॥

जिस जीव का, जिस क्षेत्र में, जिस विधि से, जीवन-मरण, सुख-दु:ख, हानि-लाभ, केवलज्ञानी के ज्ञान में आया, उसमें हेर-फेर करने में इन्द्र, जिनेन्द्र, तीर्थङ्करदेव कोई भी समर्थ नहीं हैं-

— ऐसा जानते मानते ही मोह का क्षय हो जाता है।

(2) उपादानरूप से बात करें तो विचारना होगा कि केवलज्ञानी के केवलज्ञान में क्या आया? वस्तुस्वरूप आया।

वस्तुस्वरूप क्या है?

'अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं हैं। कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती।' — ऐसा वस्तुस्वरूप जिसने जाना, उसी समय मोह का अभाव हो जाता है। वास्तव में उसी ने अरहन्त भगवान को जाना।

'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रस लीन।'

अरहन्त भगवान भी पहले मेरी ही भाँति अजीवतत्त्व को अपना मानकर दु:खी थे। ज्ञानियों से सुना कि अजीवतत्त्व ज्ञेय हैं; उनसे मेरा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा ही निर्णय करके, उसी समय द्रव्यस्वभाव का आश्रय किया, सुख का प्रारम्भ हो गया। मुझ आत्मा के अलावा, विश्व में अनन्त द्रव्य हैं, वे सब व्यवहार से ज्ञेय हैं। ये पदार्थ, ज्ञान में नहीं आते; अत: मुझ आत्मा ज्ञायक और ज्ञान की पर्याय ज्ञेय;

ऐसा भेद भी नहीं; बस! मैं ज्ञायक–ज्ञायक–ज्ञायक; इस प्रकार निज द्रव्यस्वभाव का परिपूर्ण आश्रय करके, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की प्राप्ति करके चारों घातियोंकर्मों का अभाव करके, सादि अनन्त अक्षय सौख्य की प्राप्ति कर ली है।

प्रश्न – मुझ आत्मा भगवान कैसे बने?

उत्तर – अरे! शक्ति अपेक्षा तो मैं भी भगवान हूँ। एक बार शरीर से भिन्न निजात्मा का आश्रय लेते ही पर्याय में भी भगवान बन जाता है। जिसको इस प्रकार पर्याय में एकदेशभाव नमस्कार की प्राप्ति हुई है तो अस्थिरता का राग भी पर्याय में होता है, परन्तु उसको बन्ध का कारण मानता है और अपने में पूर्ण स्थिर होकर पूर्ण सुखी हो जाता है।

अरहन्त भगवान का आदर कौन करता है? जिसको अपने स्वभाव का भान हुआ, जिसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है, वह।

प्रश्न – नारकी, तिर्यञ्चादि को देव–कुदेवादि का व्यवहार नहीं है, वहाँ अरहन्त आदि न तो विराजमान हैं, न ही वे पूजा–पाठ आदि करते दिखायी देते हैं — तो आपका यह कहना कि 'सम्यक्त्व होने पर अरहन्तादि का श्रद्धान होता है' — यह बात झूठ सिद्ध होती है?

उत्तर – अरे भाई! जिसे सम्यक्त्व हुआ है, उसे सातों तत्त्वों का श्रद्धान है। अब, मोक्षतत्त्व, पर्याय में सर्वोत्कृष्ट है। मोक्षतत्त्व के धारक कौन हैं? अरहन्त व सिद्ध। अत: जिसे मोक्षतत्त्व का श्रद्धान है, उसने अरहन्त–सिद्ध को माना; इसलिए उसके देव का श्रद्धान हुआ। मोक्ष का कारण, संवर–निर्जरा है। संवर–निर्जरा के धारक भावलिङ्गी मुनि हैं। जिसने संवर–निर्जरा को माना, उसने गुरु को माना; अत: इसके गुरु का श्रद्धान भी हुआ। रागादि रहित भाव का नाम अहिंसा है, उसी को उपादेय मानते हैं; अत: धर्म का भी श्रद्धान हुआ। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को ही अरहन्तादिक का श्रद्धान होता है।

प्रश्न – मिथ्यादृष्टि को अरहन्तादिक का श्रद्धान है या नहीं?

उत्तर – बिल्कुल नहीं! क्योंकि अनुभव हुए बिना, अरहन्तादिक के छयालीस गुण जानते हैं, परन्तु पर्यायाश्रित गुण जानता है। भिन्न–भिन्न गुण, जीव–पुद्गल में जिस प्रकार सम्भव हैं, वैसे यथार्थ नहीं जानता। कुछ गुण शरीराश्रित है, कुछ आत्माश्रित है, उनको भिन्न–भिन्न नहीं जानता। यदि भिन्न–भिन्न जाने तो

'मैं ज्ञाता साक्षीस्वरूप नहीं, किन्तु पर का और विकार का कर्ता हूँ' — इस प्रकार जिसने पर का कर्तृत्व माना है और अपना ज्ञातास्वभाव नहीं माना – उस जीव की मिथ्यामान्यता में ऐसा आ जाता है कि मेरा ज्ञातास्वभाव ढँक जाए और मुझमें विकार का तथा पर के कर्तृत्व के भाव का विकास हो! इस मिथ्यामान्यता के कारण उस जीव का ज्ञान अन्तिम सीमा तक ढँक जाएगा और वह एकेन्द्रिय होगा। अपने ज्ञानस्वभाव की विराधना का यही फल है।

मङ्गल समर्पण

अपने आत्मा को परद्रव्य से भिन्न कैसे न जाने ? अतः जिसके जीवादिक तत्त्वों का श्रद्धान नहीं है, उसे आत्मश्रद्धान नहीं है, उसे अरहन्तादिक का भी श्रद्धान नहीं है।

प्रश्न – मैं अनादि का मिथ्यादृष्टि जीव, निजात्मा का श्रद्धान कैसे करूँ, ताकि अरहन्तादिक का श्रद्धान हुआ भी कहलाये ?

उत्तर – मुझ आत्मा और अरहन्त भगवान का द्रव्य, शक्ति अपेक्षा एक समान है। गुण जितने अरहन्त भगवान में हैं, उतने ही मुझमें हैं। भगवान की पर्याय में पूर्ण वीतरागदशा है, मेरी पर्याय में मोह–राग–द्वेष है। उनमें (अरहन्त भगवान में) भी पहले राग–द्वेष था। उन्होंने कैसे दूर किया ? मेरी पर्याय में दोष है, मेरी मूर्खता से है। मूर्खता क्या है ? अजीवतत्त्व को अपना मानना। जब माना कि अजीवतत्त्व से सर्वथा सम्बन्ध नहीं तो राग उत्पन्न नहीं हुआ, उसी समय भगवानपना प्रगट हो गया। इसी प्रकार मुझे जानना होगा, तभी मैं भी भगवान बन सकता हूँ। इसके अलावा कोई उपाय नहीं है। ऊपर से आकर भगवान मेरा भला कर जाएँ — ऐसा तीन काल में भी सम्भव नहीं है।

सिंह की पर्याय में मुनियों ने सम्बोधा — तू भगवान है ! उसी समय दृष्टि स्वभाव पर आते ही सम्यग्दर्शन होकर, कालान्तर में भगवान बन गया। अरे ! मारीच के भव में दादा, पिता, भाई, चाचा सब मोक्ष पधार रहे हैं लेकिन उसमें क्या कर सके ? निज द्रव्य–गुणरूप अभेद स्वभाव की ओर दृष्टि करते ही भगवान बनता है, उसी ने निमित्तरूप अरहन्त भगवान को माना।

जिस प्रकार हार को खरीदनेवाला मनुष्य, हार को खरीदते समय हार, उसकी सफेदी और उसके मोतियों इत्यादि की परीक्षा करता है, किन्तु बाद में सफेदी और मोतियों को हार में ही समाविष्ट करके, उनका लक्ष्य छोड़कर, मात्र हार को ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो हार के पहिनने पर भी उसकी सफेदी आदि के विकल्प बने रहने से, हार पहनने के सुख का वेदन नहीं कर सकता। उसी प्रकार आत्मा, पर्यायों को और चैतन्यगुण को आत्मा में ही गर्भित करके, केवल आत्मा को जानने पर, परिणामी–परिणाम–परिणति के भेद का विकल्प नष्ट हो जाता है और जीव, निष्क्रिय चिन्मात्र स्वरूप को जानता है।

अरहन्त भगवान की भक्ति क्या है ? अरहन्त भगवान के द्रव्य–गुण–पर्याय को जानकर, निज स्वरूप को – निज द्रव्य–गुण–पर्याय को जानना। भगवान तो

चरण, वह स्वधर्म है। धर्म, आत्मस्वभाव है और वह रागद्वेष–रहित जीव के अनन्य परिणाम हैं।

– आचार्य कुन्दकुन्द

एक आदर्शमात्र हैं, कीमत तो अपनी ही है। जिसने स्वयं को जाना, उसी ने भगवान को माना। 'वन्दे तद्गुण लब्धये' — प्रभु! आप जैसे गुणों की प्राप्ति के लिये मैं आपकी वन्दना करता हूँ। निज स्वरूप को जानने के लिये भगवान की प्रतिमा प्रतिबिम्ब के समान है। *(श्री प्रवचनसार, गाथा 80 पर)*

जिसने अपने ज्ञाता / साक्षीस्वरूप को स्वीकार करके, विकार की और पर के कर्तृत्व की बुद्धि को उड़ा दिया है, वह जीव प्रति समय अपने ज्ञातृत्व को बढ़ाता–बढ़ाता और रागादि भावों को दूर करता हुआ, अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करता है और साक्षात्रूप से सम्पूर्ण ज्ञाता हो जाता है। अपने ज्ञानस्वभाव की आराधना का यह फल है।

दिनाँक 12 अप्रैल 1994

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

निर्वाण की प्राप्ति का सनातन राजमार्ग

'मैंने चितामणिरत्न प्राप्त कर लिया है, तथापि प्रमाद चोर विद्यमान है' — ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं।

'यह अर्घ समर्पण करके प्रभु! निज गुण का अर्घ बनाऊँगा।
निश्चित तेरे सदृश प्रभु, अरहन्त अवस्था पाऊँगा॥'

इस प्रकार गाथा 80 के अनुसार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर, पर्याय में अस्थिरता का राग, देव–गुरु–शास्त्र का राग मौजूद है, वह प्रमाद चोर है। ज्ञानी उसे अपना नहीं मानता। यदि उसमें अपनापना हो जाए तो मिथ्यादृष्टि हो जाए। लेकिन ऐसा तो अपवादरूप में कहने में आता है। पर्याय में अस्थिरता का राग है लेकिन उसे अपना नहीं मानते, दृष्टि चौबीस घण्टे स्वभाव पर ही रहती है; अतः क्रम से पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं, परिपूर्ण शुद्धता को प्राप्त कर लेते हैं।

अजीवतत्त्व से सर्वथा भिन्न, निज आत्मा का अनुभव करके, यदि जीव सर्व प्रकार से निजस्वरूप में लीन हो गया तो पूर्णरूप से राग–द्वेष को निर्मूल कर लेता है। किस प्रकार? अपने में पूर्ण स्थिर होकर। इसके अतिरिक्त धर्म की प्राप्ति से पूर्णता तक का कोई उपाय नहीं है।

निर्मोह आत्मतत्त्व को प्राप्त आत्मा, यदि पूर्ण निर्मोह हो जाता है तो परमात्मा हो जाता है। —परन्तु यदि साधकदशा में है, पूर्णता नहीं है तो चौबीस घण्टे प्रमाद चोर से सावधान रहता है। सावधानी क्या बरतनी? अपने में पूर्ण स्थिरता का प्रयत्न करते हैं। विशेषरूप से मद चढ़ गया है जिसको – कि 'शरीर की क्रिया मैं करता हूँ' — यह मिथ्यादृष्टि का प्रमाद है। यह प्रमाद, ज्ञानियों को

मङ्गल समर्पण

नहीं होता। शरीर की क्रिया, ज्ञेय और राग, हेय जानते हैं, यही प्रमाद चोर से सावधानी है। गाथा 81 में तो बताते हैं कि 80 गाथा के अनुसार आत्मतत्त्व को प्राप्त करके, मोह को दूर करता है तो परमात्मा बन जाता है।

मुझे क्या करना?

मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है - ऐसा मानते ही अपने स्वरूप में जागृत हो जाता है। पूर्णता नहीं है तो पर्याय में राग है, वह प्रमाद चोर है। इस मोह का भी अभाव करके, परिपूर्ण शुद्धता की प्राप्ति होकर परमात्मा हो जाता है। विवेकी का कर्तव्य है कि आत्मबल की उपलब्धि होने पर, निरन्तर प्रमाद चोर से सावधान रहे। राग-द्वेष का समूल नाश करे, पूर्ण वीतराग वर्तने पर ही इनका नाश होता है।

आज तक जितने भी तीर्थङ्कर हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे, वे सब इसी से हो चुके हैं, हो रहे हैं, और होते रहेंगे। हर क्षेत्र में, हर काल में, प्रत्येक जीव की मुक्ति का एकमात्र यही पारमार्थिक पंथ है, यह गाथा 82 में बताते हैं।

गाथा 80 में बताया था — जिसने निमित्तरूप केवलज्ञानी को माना, उसे शरीर का मैं कर्ता, बच्चों का, घर का, रूपी कार्यों का मैं कर्ता हूँ - ऐसी कर्ताबुद्धि उसी क्षण काफूर हो जाती है। जैसा केवलज्ञानी के ज्ञान में आया, उसमें हेर-फेर करने में कोई समर्थ नहीं, तो फिर पर में करने-धरने का अवकाश कहाँ रहा? अरे! अरहन्त भगवान भी पहले हमारी ही तरह शरीर को अपना मानकर, पर के कर्ता-भोक्ता बनते थे, दुःखी होते थे। तो उन्होंने क्या किया? अजीवतत्त्व को अपना नहीं माना तो मोह-राग-द्वेष उत्पन्न नहीं हुए। भगवान की आत्मा और मेरी आत्मा में द्रव्य-गुण की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है। अन्तर कहाँ है? पर्याय में, मात्र एक समय की पर्याय में। एक समय की पर्याय का अन्तर दूर कैसे हो? 'जीव पदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि है। क्यों है मिथ्यादृष्टि? स्व-पर के यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान के कारण। मिथ्यात्व कैसे मिटे? स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।' इस प्रकार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर, जैसे-जैसे अपने स्वभाव में लीन होता जाता है, क्रम से अरहन्त भगवान व सिद्ध बन जाता है। पर्याय में भगवान बनता क्यों नहीं? अजीवतत्त्व को अपना मानकर, पर को मिलाने व हटाने के प्रयत्नों में ही निरन्तर पागल बना रहता है। अपने कार्य के लिये

जो जानता है, वह ज्ञान और जो प्रतीति करता है, वह दर्शन। दोनों के सहयोग (एकमेक) से चारित्र है।

- **आचार्य कुन्दकुन्द**

फुर्सत ही नहीं है। जो कार्य असम्भव है, उसमें पागल बनता है। एक बार अजीवतत्त्व को अपना न माने, उसी समय मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है।

अब कहते हैं कि कर्मांशों के क्षय का, मोक्ष की प्राप्ति का, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। किस उपाय के अतिरिक्त ? मैं जीवतत्त्व हूँ, ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड भगवान आत्मा हूँ। इसके अतिरिक्त निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है। अधिक प्रलाप से क्या ? बस यही उपाय है।

तास ज्ञान को कारण स्वपर विवेक बखानौ।
कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनौ॥

अतः स्व-पर के भेदविज्ञान से सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, वीतरागचारित्र के विरोधी राग-द्वेष को दूर करना, अर्थात् निजात्मा में पूर्ण स्थिर होना, यही एकमात्र मोक्षमार्ग है। त्रिकाल में भी इसके अलावा कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है। निजात्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन, आत्मा के आश्रय से ही श्रावकपना, आत्मा के आश्रय से ही मुनिपना, श्रेणी, अरहन्त और सिद्धदशा की प्राप्ति होती है। शुभभाव व शरीर की क्रिया से धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न - अनादि-अनन्त - धर्म की प्राप्ति का उपाय पण्डित श्री टोडरमलजी ने क्या बताया है ?

उत्तर - पहले तो देवादिक का श्रद्धान हो; फिर तत्त्वों का विचार हो; फिर आपा-पर का चिन्तवन हो; फिर केवल आत्मा का चिन्तवन करे — इस अनुक्रम से साधन करे तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है।

प्रश्न - देवादिक का श्रद्धान क्या है ?

उत्तर - 1. जो-जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ नहीं होसी, काहे होत अधीरा रे॥

— ऐसा केवलज्ञानी के केवलज्ञान में आया है, उसमें हेर-फेर कोई नहीं कर सकता - ऐसा जिसने जाना, उसका बाहर का उछाला खत्म हो गया।

2. केवलज्ञानी ने क्या जाना ? वस्तुस्वरूप क्या है ? 'अनादि निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादासहित परिणमित होती है; कोई किसी के आधीन नहीं है।' — ऐसा जानते-मानते ही देवादिक का श्रद्धान होता है।

3. भगवान पहले कैसे थे ? हमारी तरह रागी-द्वेषी थे। उन्होंने क्या

यह आत्मा चैतन्यस्वरूप, शरीर-मन-वाणी-पुण्य-पापरहित है, उसके परिपूर्ण सामर्थ्य की श्रद्धा करके उसका सेवन करने से वह स्वयं केवलज्ञानरूप हो जाता है। जो सिद्ध भगवान हुए, वे अपने स्वभावसामर्थ्य से ही हुए हैं, और मैं भी ऐसी ही स्वभावसामर्थ्य से परिपूर्ण हूँ — ऐसी जिसने निशङ्क श्रद्धा की, उस जीव को वर्तमान ज्ञानदशा अल्प होने पर भी, वह अवस्था, त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख होती है और उस स्वभाव के सेवन द्वारा अल्प काल में ही उसे केवलज्ञान प्रगट होता है।

मङ्गल समर्पण

किया ? अजीवतत्त्व से अपने को भिन्न जाना, उसी समय राग-द्वेष का अभाव हो गया था। मुझे भी अब पर्याय में राग-द्वेष है। मैं भी अजीवतत्त्व से अपना सम्बन्ध न मानूँ, उसी समय पर्याय में भी भगवान जैसा ही हो जाऊँ - तब देवादिक का श्रद्धान होगा।

सात तत्त्वों का श्रद्धान क्या ? स्व पर का श्रद्धान क्या ? केवल आत्मा का चिन्तवन क्या ? अजीवतत्त्व से सर्वथा भिन्न, निजात्मा का श्रद्धान - यह आत्मा का चिन्तवन है। आत्मा, आत्मा की मात्र बात नहीं करे, श्रद्धान करे तो, परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। टोडरमलजी कहते हैं :—

'देखो तत्त्वविचार की महिमा। तत्त्वविचाररहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादि पाले, तपश्चरण करे तो भी सम्यक्त्व का अधिकारी नहीं। तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होती है।'

प्रश्न - मुझे धर्म की प्राप्ति के लिये क्या करना ?

उत्तर - 1. पहले तो देवादिक का श्रद्धान करना। गर्दन कटती हो, परन्तु कुदेवादि के पास स्वप्न में भी नहीं बैठना। मात्र अरहन्त देवादिक का श्रद्धान करना, क्योंकि इससे गृहीतमिथ्यात्व का अभाव होता है। मोक्षमार्ग में विघ्नकरनेवाले कुदेवादिक का निमित्त दूर होकर, मोक्षमार्ग के सहायक अरहन्त देवादिक का श्रद्धान होता है।

2. सात तत्त्वों का श्रद्धान करना। किस प्रकार ? जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन है, वह जीवतत्त्व है; जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं, वे अजीवतत्त्व हैं, उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। — ऐसा जानते-मानते ही आस्रव-बन्ध का अभाव, संवर-निर्जरा की प्राप्ति होकर, क्रम से मोक्ष की प्राप्ति। यह सातों तत्त्वों का श्रद्धान हो गया।

3. स्व-पर का श्रद्धान करना। छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। एक तरफ मुझ आत्मा स्व, दूसरी तरफ बाकी दुनिया - यह पर। पर से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा मानते ही स्व का आश्रय हो जाता है।

4. फिर आप में अपनत्व मानने के अर्थ स्वरूप का विचार करे कि जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन, वह मैं। इस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है।

आत्मलीन जीव, सम्यग्दृष्टि है। जो आत्मा को जानता है, वह सम्यग्ज्ञान है और उसमें रक्त, वह चारित्र है।

- **आचार्य कुन्दकुन्द**

इस प्रकार चौबीस घण्टे कभी देवादिक के विचार में, कभी सात तत्त्वों के विचार में, कभी आपा पर के विचार में, कभी आत्मविचार में उपयोग लगाये, तब नियम से सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। हर क्षेत्र में, हर काल में, हर जीव के लिये, धर्म की प्राप्ति का यही उपाय है। आज तक जितने भी तीर्थङ्कर हुए हैं, वर्तमान में विदेहक्षेत्र में तीर्थङ्कर हो रहे हैं या त्रिलोक में जो जीव सम्यग्दर्शनादि प्राप्त कर रहे हैं या भविष्य में करेंगे — एकमात्र इसी उपाय से ही हो चुके हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे।

इसी अनुक्रम से ही कार्य की सिद्धि होती है। किस कार्य की सिद्धि ? दुःख के अभाव, सुख की प्राप्ति, चारों गतियों के जन्म-मरण के दुःखों से छूटना हो तो मुझे भी इस अनुक्रम से ही इनको अङ्गीकार करना।

(श्री प्रवचनसार, गाथा 81-82 एवं श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 328 पर)

जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब साक्षात् देखना है, सो यह तीसरे प्रकार का देखना है। उस स्थिति में ज्ञान, सर्व विभावों से रहित होता हुआ, सबका ज्ञाता-दृष्टा है; इसलिए यह तीसरे प्रकार का देखना पूर्ण ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है।

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

केवली भगवान का लघुनन्दन

1. विश्व में जाति अपेक्षा छह द्रव्य हैं। एक तरफ मुझ आत्मा, दूसरी तरफ सारा विश्व-ऐसा भगवान जानते हैं, ऐसा ही हमने जाना - उसी समय भगवान का लघुनन्दन बन जाता है।

2. सुबह से शाम तक जितना रूपी कार्य दिखता है, उसका कर्ता सर्वथा पुद्गल है - ऐसा भगवान जानते हैं — ऐसा ही हमने जाना तो केवली भगवान के लघुनन्दन बन जाता है।

3. निजात्मा के आश्रय से ही अरहन्तपद, सिद्धपद, निजात्मा के आश्रय से ही आचार्य, उपाध्याय, साधुपद की प्राप्ति होती है — ऐसा जानते-मानते ही केवली भगवान का लघुनन्दन बन जाता है।

4. मैं भ्रम्यो अपनको विसरि आप, अपनाये विधिफल पुण्य-पाप।
निज को पर का करता पिछान, पर में अनिष्टता-इष्ट ठान॥

— ऐसा जानते-मानते ही पर में इष्ट-अनिष्ट की खोटी बुद्धि का अभाव होकर, केवली भगवान का लघुनन्दन बन गया।

5. निजात्मा के कल्याण के लिये शरीर की, शुभभाव की या आगे बढ़ने के लिये अस्थिरता के राग की किञ्चित आवश्यकता नहीं है; एकमात्र 'मैं साक्षात्

भगवान हूँ' — यह समझने की आवश्यकता है — ऐसा भगवान ने बताया। यह जानते ही केवली भगवान के लघुनन्दन बन जाता हैं।

6. मोक्षमार्ग प्रारम्भ होते ही सारा जैनशासन उसके हाथ में आ गया। सिद्धदशा क्या है, अरहन्तदशा क्या है, आचार्य, उपाध्याय, साधुपना, श्रावकपना, सम्यग्दृष्टिपना क्या है? अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, श्रावक, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि क्या करते हैं? — सारा नक्शा उनके हाथ में आ गया।

जिस समय स्व को स्व और पर को पर जाना, उसी समय धर्म की प्राप्ति। धर्म के लिये तीर्थ की, उपवास की, व्रतादि की, शुभभाव व शरीर की क्रिया की रंचमात्र आवश्यकता नहीं; मात्र मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं – इतना समझना है। जैनकुल, दिगम्बरधर्म, पूज्य गुरुदेव का समागम मिलने पर भी यह बात नहीं समझी तो समझलो होनहार ही खराब है।

संसार भी अपने में हैं और मोक्ष भी अपने में है। अपनी मूर्खता ही संसार है; पुरुषार्थ ही मोक्ष है। परद्रव्यों में, यह मैं — इसका नाम संसार है और परद्रव्यों से भिन्न, यह मैं – इसका नाम मोक्ष है।

जिसने संसार का अभाव करके मोक्ष की प्राप्ति का निश्चय करके, मोक्षमार्ग में प्रवेश कर लिया है, उसको अभी अस्थिरता का राग आता है; देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग आता है; बारह अणुव्रतादि का राग आता है; अट्ठाईस मूलगुणों का विकल्प आता है; मैं आत्मा हूँ, साक्षात् भगवान हूँ – ऐसा विकल्प आता है – वह प्रमाद चोर है। मोक्षमार्गी जीव उससे चौबीस घण्टे सावधान रहता है। सावधानी क्या? अपने में पूर्ण स्थिर होने का प्रयत्न बराबर रहता है, राग-द्वेष को दूर करने के लिये अत्यन्त जागृत रहता है।

किस प्रकार जागृत रहूँ ताकि मैं भी मोक्षमार्ग में प्रवेश करूँ? मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा श्रद्धान छोड़कर, मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसी श्रद्धा करता है, वह योगी चौबीस घण्टे निजात्मा के कार्य में जागता है। इस जागृति के लिये पुण्यकर्म, पुण्यभाव, पुण्य की सामग्री व परलक्ष्यी ज्ञान के उघाड़ की किञ्चितमात्र आवश्यकता नहीं है।

आज तक जितने भी तीर्थङ्कर हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे — वे सब 'मैं जीवतत्त्व हूँ; शरीर नहीं हूँ' — इसी उपाय से गये हैं, हो रहे हैं और होंगे। मुझे भी इसी उपाय को तुरन्त करना, यही मनुष्यभव की सार्थकता है।

शुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यक्त्व का विनाश, वह दर्शनमोह है। निर्विकार निश्चय चित्तवृत्ति विनाशक, वह क्षोभ है।

– आचार्य जयसेन

दिनाँक 14 अप्रैल 1994

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

मोह के तीन प्रकार

इस गाथा में निजात्मा की प्राप्ति में बाधक शत्रुरूप मोह का वर्णन करते हुए उसके प्रकारों का वर्णन किया गया है —

प्रश्न – ज्ञान क्या है ?

उत्तर – जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति ही ज्ञान है।

प्रश्न – किस प्रकार हो ऐसी प्रवृत्ति ?

उत्तर – मैं जीवतत्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ – ऐसा निर्णय होते ही।

प्रश्न – अज्ञान क्या है ?

उत्तर – परद्रव्य में जीव की प्रवृत्ति ही अज्ञान है।

प्रश्न – किस प्रकार, अर्थात् क्यों होती है परद्रव्य में प्रवृत्ति ?

उत्तर – मैं कैलाशचन्द्र जैन हूँ, परद्रव्य मेरा है — ऐसे अध्यवसान से स्व व पर के विभाग को न देखने के कारण, पर में अहंकार-ममकार करता हुआ कभी भेदविज्ञानी नहीं होता।

प्रश्न – अब करना क्या ?

1. पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि बहुत कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, बस जीव का चैतन्य और (कैलाशचन्द्र) शरीर का मूर्तत्व आदि लक्षणों से पहचान करनामात्र ही प्रयोजनभूत कार्य है।

2. **'जड़-चेतन की सब परिणति प्रभु, अपने-अपने में होती है। अनुकूल कहें प्रतिकूल कहें, यह झूठी मन की वृति है।'** — बस ऐसा निर्णय करनामात्र ही प्रयोजनभूत है।

3. अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन, वस्तु स्व है। और मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित, नवीन जिनका संयोग हुआ है — ऐसे (कैलाशचन्द्र) शरीरादि पुद्गल पर हैं — ऐसा स्व पर का निर्णय होते ही, स्वद्रव्य में प्रवृत्ति हो जाती है। स्व-पर के भेदज्ञान का अभाव ही, परद्रव्य में प्रवृति का कारण है।

प्रश्न – मोह क्या है ?

आत्मा स्वयं—सिद्ध असंयोगी वस्तु है; न तो उसे किसी ईश्वर ने उत्पन्न किया है और न वह नाश होकर किन्हीं संयोगों में मिल जाता है। आत्मा, स्वतन्त्र चैतन्यस्वभाव की मूर्ति है; उसको जो परद्रव्य के लक्ष्य से शुभ या अशुभ उपयोग होता है, वह बन्धन है — अशुद्धता है; वह भाव, आत्मा के धर्म का कारण नहीं है। शुभ अथवा अशुभ दोनों भावों से आत्मा के स्वभाव का विकास न होकर, बन्धन होता है और उससे आत्मा को शरीरादि परद्रव्यों का संयोग, अर्थात् संसार होता है।

मङ्गल समर्पण

उत्तर – 1. दूसरे के द्रव्य–गुण–पर्यायों को अपना मानना ही मोह है। मुझ आत्मा, चैतन्य अरूपी असंख्यात प्रदेशी एक आकारवाला है, उसका तो पता नहीं और जड़, रूपी एक–एक प्रदेशी अनन्त पुद्गलरूप कैलाशचन्द्र नामक शरीर के अनन्त आकारों को अपना मानना, मोह है।

2. संक्षेप में 'मैं आत्मा हूँ' इस बात को भूलकर 'मैं कैलाशचन्द्र हूँ' — यह मोह है।

3. अपनी असावधानी और पर की सावधानी, मोह है।

4. अजीवतत्त्व को अपना मानकर, उसमें किसी को अच्छा, किसी को बुरा मानना, मोह है।

मोह के कारण ही मैं दु:खी हूँ; परद्रव्य के कारण नहीं।

'मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि' — ऐसा छहढ़ाला में कहा है। मैं अपने को शरीर माननेरूप मोहरूपी शराब पीकर अनादि–काल से एक–एक समय करके चारों गतियों में जन्म–मरण के दु:खों को भोगता हुआ घूम रहा हूँ।

जैनकुल में जन्म, पूज्य गुरुदेवश्री का समागम इस मोहरूपी शराब का नशा उतारने के लिये मिला है।

प्रश्न – मोह का अभाव कैसे हो?

उत्तर – 'मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ' — ऐसा निर्णय होते ही मोह का अभाव हो जाता है। मोह की उपस्थिति के कारण ही निजरूप आच्छादित रहता है; निज स्वभाव प्रगट नहीं होता। अजीव को, स्व–द्रव्यरूप से; परगुण को, स्वगुणरूप से; परपर्यायों को, स्वपर्यायोंरूप समझकर, जीव अति–अति दु:खी होता है।

परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप किस प्रकार माना? मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसी मान्यता। (कैलाशचन्द्र) तो जड़ पुद्गलद्रव्य हैं, उसे स्व माना कि मैं कैलाशचन्द्र, मैं पुरुष हूँ, मैं पिता हूँ आदि–आदि।

परगुण को स्वगुण किस प्रकार माना? काला, पीला, ठण्डा, गरम आदि पुद्गल के गुण हैं। इनमें स्वपना स्थापित करके ऐसा माना कि मैं काला, मैं गौरा आदि।

घातियाकर्मों को पाप कहा है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय ये पापक्रिया है। इन पाप क्रियाओं का अभाव होना, वह चारित्र है।
– **आचार्य वीरसेनस्वामी**

परपर्याय को स्वपर्यायरूप किस प्रकार माना ? अपना कार्य ज्ञाता–दृष्टा है — इसका तो पता नहीं और सुबह से शाम तक जितना रूपी कार्य दिखता है, वह सर्वथा परद्रव्य / पुद्गल की पर्यायें / कार्य है। उन पर–पर्यायों को स्व मानकर ऐसा माना कि मैं उठता–बैठता हूँ, मैं पर का काम–काज करता हूँ, मैं पढ़ता हूँ, मैं पढ़ाता हूँ आदि।

प्रश्न – ऐसा क्यों मानता है ?

उत्तर – अपना स्वभाव तो दृष्टा–ज्ञाता है; सो स्वयं केवल देखने–जाननेवाला तो रहता नहीं है। जो पदार्थ ज्ञान की पर्याय में निमित्त पड़ते हैं, उनमें अपनापना मानकर, किसी का सद्भाव व किसी का अभाव चाहता है। उनका परिणमन अपने आधीन न होने से वृथा ही रागी–द्वेषी होता है।

प्रश्न – अब क्या करना ?

उत्तर – सर्व पदार्थ अपने–अपने स्वभाव के ही कर्ता हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है — ऐसा निर्णय करके आत्मसन्मुख होना।

सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि अपने आत्मा का पता न होना, अजीव को अपना मानना ही मोह है। मोही जीव, परद्रव्य को स्व–रूप से मानता है। मोही जीव, परगुण को स्वगुण रूप से मानता है। मोही जीव, इन्द्रिय विषयों के वश होकर ज्ञेयों को इष्ट–अनिष्ट मानता है। मोही जीव, इष्ट विषयों में राग करके और अनिष्ट विषयों में द्वेष करके, अत्यन्त क्षुब्ध होता है।

मोह को तीन प्रकार में बाँटा है — मोह, राग, द्वेष। जब तक उनका सद्भाव रहेगा, आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी। आत्मप्राप्ति का उपाय — **'निज को निज, पर को पर जान'**; फिर मोह राग द्वेष का अभाव और स्वभाव का भान।

(श्री प्रवचनसार, गाथा 83 पर)

शुभाशुभराग से रहित आत्मा के स्वभाव की पहिचान करके उसमें रमणता करना, शुद्धोपयोग है, वही धर्म है और वह मोक्ष का कारण है। अशुद्ध उपयोग, परद्रव्य का अनुसरण करके होता है और उसके फल में भी परद्रव्य का ही संयोग होता है। शुद्धोपयोग, स्वद्रव्य का अनुसरण करके होता है और उसके फल में मुक्तदशा प्रगट होती है।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

दिनाँक 15 अप्रैल 1994

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

मोह : स्वरूप एवं अभाव का उपाय

आत्मा की उपलब्धि, मोह के रहते नहीं हो सकती। मोह है क्या? द्रव्य-गुण-पर्यायरूप प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व है। परद्रव्य में अहंबुद्धि, परगुण में अहंबुद्धि, परपर्याय में अहंबुद्धि; परद्रव्य में ममकारबुद्धि, परगुण में ममकारबुद्धि, परपर्याय में ममकारबुद्धि – यह सब मिथ्यात्वभाव हैं। दृष्टिगोचर पुद्गल पर्यायों में द्रव्यरूपबुद्धि, यह मिथ्यात्वभाव है। अदृष्टिगोचर द्रव्य-गुण-पर्यायों में अभावरूप बुद्धि-यह मिथ्यात्वभाव है।

धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति ही इस मोह से आच्छादित मनुष्य, अर्थात् मैं अज्ञानी अनादि से एक-एक समय करके दु:खी हो रहा हूँ।

वर्तमान में मनुष्यभव, जैनकुल, पूज्य गुरुदेव का समागम मिलने पर भी यदि इस मोह का अभाव नहीं हुआ तो संसार-परिभ्रमण बना ही रहेगा।

एक तरफ मुझ आत्मा, दूसरी तरफ कैलाशचन्द्र शरीरादि अनन्त पुद्गल – उन सबमें यह मैं हूँ – ऐसा अहंभाव – यह परद्रव्य में अंहबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव है। जिसके कारण चौबीस घण्टे दु:खी होकर चारों गतियों में घूमते हुए निगोद में चला जाता है। जब शरीर को अपना माना तो सारी दुनिया को अपना माने बिना नहीं रहता है, यह इस मोहरूप मिथ्यात्वभाव की असीम महिमा है। शरीर में 'यह मैं ही हूँ' — ऐसी श्रद्धा, ऐसा ज्ञान, ऐसा आचरण, यह अगृहीत मिथ्यादर्शनादि है। दूसरे के कहने से 'मैं ही हूँ' — ऐसा दृढ़ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण, गृहीत मिथ्यादर्शनादि है।

इनके अभाव करने का उपाय क्या है? पूज्य गुरुदेवश्री का समागम बना तो शरीर से सर्वथा भिन्न मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसी श्रद्धा, सम्यग्दर्शन; ऐसा ज्ञान, सम्यग्ज्ञान; ऐसा आचरण, सम्यक्चारित्र है। ऐसा पता चलते ही अनन्त काल का पाप एक क्षण में उड़ जाता है।

श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी यही कहा है —

जीव, अनादि से अपनी आत्मा को भूलकर, शरीर को अपना मानने से दु:खी था। सच्चे गुरु ने बताया कि तू भगवान आत्मा है, इस शरीर से तेरा सर्वथा

संयमन करने को संयम कहते हैं। संयम शब्द का अर्थ सम्यक् होता है। इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग आस्रवों से विरत, वह संयम है।

– आचार्य वीरसेनस्वामी

सम्बन्ध नहीं है। — ऐसा जानते-मानते ही, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, तभी सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती है।

मुझ आत्मा चेतन, शरीर जड़ है; मुझ आत्मा अरूपी, शरीर रूपी है; मुझ आत्मा असंख्यात प्रदेशी है, शरीर का प्रत्येक परमाणु एक-एक प्रदेशी; फिर मुझ आत्मा का शरीर से सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है ? शरीर आग में जलेगा। इस समय भी हमारी नौकरी स्वीकार नहीं करता, लेकिन अज्ञानी धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति चौबीस घण्टे शरीर में पागल बना रहता है।

ये दोष मुझमें है या नहीं ? अपना दोष देखना है, दूसरों का नहीं। ज्ञानी सदैव अपनी ओर ही देखते हैं। अरहन्त, सिद्ध की बात चलती हो तो ज्ञानी जानता है, मेरी पर्याय में आयेगा। मिथ्यात्व की बात चलती हो तो जानता है कि मेरी पर्याय में था। अपना ही दोष दूर करना है। शरीर को अपना मानना, करोड़ों खून करने से भी बड़ा पाप है। यह पाप अनादि काल से एक-एक समय करके मैं करता आ रहा हूँ, परन्तु घबराने की जरूरत नहीं है, इसके भगाने में मात्र एक समय की जरूरत है, एक समय के भेदविज्ञान की जरूरत है कि मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

शरीर बना रहे, घर चाहिए, पत्नी चाहिए, बच्चे चाहिए, यह धतूरे का पागलपन है। जिसे बाहर का कुछ चाहिए, इसे सुख नहीं चाहिए; आत्मा नहीं चाहिए। स्वयं को सच्ची बात सुनने को मिली, फिर भी उलटा ही चले, तो उससे बड़ा पापी विश्व में नहीं है। देखो ! शास्त्र पढ़ने से, व्रत-उपवास से धर्म का सम्बन्ध नहीं; मात्र मैं जीवतत्व हूँ — ऐसा जानकर निजात्मा के आश्रय की आवश्यकता है।

जब शरीर को अपना माना तो उस शरीर के गुणों को अपना मानकर, ऐसा मानता है कि मैं हल्का, मैं भारी, मुझे बुखार, मैं रूखा, मैं चिकना, मैं काला, मैं गोरा, मैं कितना बढ़िया गाना गाता हूँ, आदि - पुद्गल के स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द, रूप की सभी 27 पर्यायों को अपना मानना, मिथ्यादर्शन है।

इसका अभाव कैसे हो ?

—इन सत्ताईस पर्यायों से सर्वथा भिन्न, मैं अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अवर्ण और अशब्दस्वभावी भगवान आत्मा हूँ — ऐसा जानते-मानते ही परगुण में अहंबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव का अभाव हो जाता है। *(श्री प्रवचनसार, गाथा 84 पर)*

जैसे, पानी का मूलस्वभाव शीतलता है, उष्णता उसका स्वरूप नहीं है; उसी प्रकार जो आत्मा में मोह-राग-द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे आत्मा का मूलस्वरूप नहीं है। आत्मा का मूलस्वरूप तो सिद्धसमान परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप, राग-द्वेषरहित है। बहिर्लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभभावों से बाह्य संयोग मिलते हैं परन्तु स्वभाव नहीं मिलता। शुभाशुभभाव, आत्मा को आकुलतारूप दुःख का ही कारण हैं। शुभाशुभभाव, परद्रव्य के संयोग का कारण हैं - यह कहना भी मात्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का कथन है।

मङ्गल समर्पण

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

ऐसा निर्णय कर!

मोह एक ही प्रकार का है परन्तु समझने के लिये इसको तीन भागों में बाँटा है —

1. अज्ञान – मैं ज्ञायक भगवान हूँ परन्तु अपने को शरीर माना, यह अज्ञान है।
2. राग – निजात्मा के अतिरिक्त परद्रव्यों को सुखदायी मानना।
3. द्वेष – निजात्मा के अतिरिक्त परद्रव्यों को दु:खदायी मानना।

— मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते मानते ही अज्ञान का, राग-द्वेष का अभाव हो जाता है। वस्तुस्वरूप से विपरीत अभिप्राय के कारण ही मैं आज तक मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित हो रहा हूँ।

वस्तुस्वरूप क्या है ?

'प्रत्येक द्रव्य का कायम रहकर परिणमन करना, उसका स्वभाव है।'

विपरीत अभिप्राय क्या है ?

विश्व के पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना; इस अभिप्राय के कारण निजात्मा कभी दृष्टि में नहीं आ सकता।

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 88में कहा है —

अपना स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है, परन्तु स्वयं केवल देखने-जाननेवाला तो रहता नहीं है। जो पदार्थ ज्ञान की पर्याय में निमित्त पड़ते हैं, उनमें अज्ञानता के कारण इष्ट-अनिष्टपना मानता है। अज्ञानता क्या है ? अपने को शरीर मानना। इष्ट-अनिष्ट मानने का फल क्या हुआ ? निरन्तर राग-द्वेषरूप परिणमित होता है, क्योंकि जिसे इष्ट माना, उसे मिलाने के और जिसे अनिष्ट माना, उसे हटाने के प्रयत्न में निरन्तर रागी-द्वेषी होता है। अरे ! किसी का सद्भाव या अभाव इसका किया हुआ होता नहीं, क्योंकि कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का कर्ता-हर्ता है नही। सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं। यह वृथा ही कषायभाव से आकुलित होता है। जब अपने करने-धरने से सद्भाव अभाव होते ही नहीं तो

आत्मा और बन्ध को अलग-अलग करना मोक्ष है। जो निर्विकार चैतन्य-चमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को और उस आत्मा के विकार करनेवाले भावबन्ध के स्वभाव को जानकर, बन्धों से विरक्त होता है, वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है।

– **आचार्य कुन्दकुन्द**

कषायभाव करने से क्या लाभ हो ? हाँ, एक लाभ है — स्वयं ही दु:खी होता है। कषायभाव करना ऐसा है, जैसे जल का विलोना कुछ कार्यकारी नहीं है।

करना क्या ?

1. विश्व का कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है — ऐसा निर्णय करना।
2. लोक में सर्व पदार्थ-जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश-एक-एक, और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात — ये सब पदार्थ अपने अपने स्वभाव के कर्ता हैं, कोई किसी को उपकारी-अनुपकारी हैं नहीं – ऐसा निर्णय करना। *(श्री प्रवचनसार, गाथा 84 पर)*

जिस भाव से बन्धन होता है, उस भाव से धर्म नहीं होता और जिस भाव से धर्म होता है, उस भाव से बन्धन नहीं होता। जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म का बन्धन होता है, वह भाव भी आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध भाव है, बन्धनभाव है और स्पष्ट शब्दों से कहा जाए तो वह भी अधर्मभाव है; कारण कि धर्मभाव के द्वारा कर्मों का बन्धन नहीं होता।

दिनाँक 21 अप्रैल 1995

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

भेदविज्ञान के अनमोल बोल

प्रश्न – जीव, संसार में क्यों परिभ्रमण कर रहा है ?

उत्तर – निज भगवान आत्मा, परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न ज्ञानस्वभावी है, उसका अनुभव-ज्ञान न होने के कारण, पुद्गल की 27 पर्यायों को ही अपना मानने के कारण, अनादि काल से जीव, संसार में जन्म-मरण के दु:ख भोगता हुआ परिभ्रमण रहा है।

प्रश्न – कैसा श्रद्धान-ज्ञान हो तो संसार परिभ्रमण का अभाव हो ?

उत्तर – मैं अस्पर्शस्वभावी, अरसस्वभावी, अगन्धस्वभावी, अवर्णस्वभावी, अशब्दस्वभावी, ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा हूँ। पुद्गल की 27 पर्यायों से मुझ आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है क्योंकि ये 27 पर्यायें —

1- कुछ जानती नहीं हैं,

2- अचेतन हैं,

3- आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं। — ऐसा भगवान की दिव्यध्वनि में आया है, अर्थात् ऐसा वस्तुस्वरूप है।

प्रश्न – श्री समयसार, गाथा 390 से 490 तक में आत्मा को किस-किस से पृथक बताया है और किससे अभिन्न बताया है ?

उत्तर – आचार्य कहते हैं – निज भगवान आत्मा का शास्त्र, शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आठ कर्म, धर्म, अधर्म, आकाश, काल व अध्यवसान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि ये सब अचेतन हैं और निज भगवान आत्मा, ज्ञानस्वरूप है, जाननेवाला होने से मात्र ज्ञान से अभिन्न है; पर से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न – आत्मा का कार्य, ज्ञान है; ज्ञान का पर से कोई सम्बन्ध नहीं है – इस वाक्य से कितने और कौन से बोल निकलते हैं ?

उत्तर – छह बोल निकलते हैं —

(1) ज्ञान, अरूपी है। (2) ज्ञान को कोई काल या क्षेत्र, विघ्न नहीं कर

मङ्गल समर्पण

जो पुरुष पहले समस्त परद्रव्य का त्याग करके, निजद्रव्य में लीन होता है, वह पुरुष, समस्त रागादिक अपराधों में रहित होकर, आगामी बन्ध का नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके, शुद्ध होकर समस्त कर्मों का नाश करके, मोक्ष को प्राप्त करता है। यह मोक्ष होने का क्रम है।

– पण्डित जयचन्द छाबड़ा

सकता। (3) ज्ञान, अविकारी है। (4) ज्ञान, चैतन्य-चमत्कार स्वरूप है। (5) ज्ञान, पर का कुछ नहीं कर सकता। (6) ज्ञान, सर्व समाधानकारक है।

(1) ज्ञान, अरूपी है

प्रश्न – ज्ञान, अरूपी है – इससे क्या समझना ?

उत्तर – मुझ आत्मा अरूपी है, उसके गुण अरूपी है और उसकी पर्यायें भी अरूपी हैं; अत: निजात्मा का रूपी पदार्थों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न – अरूपी आत्मा का ज्ञान कराने के लिये किस प्रकार उपदेश देते हैं और क्यों ?

उत्तर – आत्मा अरूपी, उसके गुण व पर्यायें भी अरूपी, उसका ज्ञान कैसे हो ? अनादि से निजात्मा का पता नहीं; अत: निश्चय आत्मा को अङ्गीकार कराने के लिये, व्यवहारनय द्वारा उपदेश देते हैं परन्तु व्यवहारनय का विषय जानने योग्य है; अङ्गीकार करने योग्य नहीं है। व्यवहार के बिना, निश्चय का उपदेश नहीं होता, परन्तु व्यवहारनय अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न – व्यवहार के बिना, निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता ?

1- निश्चय से मुझ आत्मा, शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध वस्तु है।

2- उसे जो नहीं पहचानते उनसे इसी प्रकार कहते रहें कि मुझ आत्मा, शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न स्वयं सिद्ध वस्तु है – तो वे कुछ समझ नहीं पायें।

3- तब उनको व्यवहारनय से शरीरादि परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर, नारक, मनुष्य, पृथ्वीकायादि रूप जीव के विशेष किये।

4- तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है, एकेन्द्रिय जीव है — इत्यादि प्रकार सहित उन्हें जीव की पहचान हुई।

इस प्रकार व्यवहार के बिना, निश्चय के उपदेश का न होना जानना।

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 252)

श्री समयसार, गाथा 67 की टीका से :—

''**दृष्टान्त** — जैसे, किसी पुरुष को जन्म से लेकर 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़े को न जानता हो, उसे समझाने के लिये

जिसने यह माना कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्ता है, उसने सच्ची क्रिया का स्थापन नहीं, उत्थापन किया है और एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य में कुछ भी क्रिया नहीं करता – ऐसा मानना ही प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्र क्रिया का स्थापन है।

जो यह 'घी का घड़ा' है, सो मिट्टीमय है; घीमय नहीं'' इस प्रकार समझानेवाले के द्वारा मिट्टी के घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है क्योंकि उस पुरुष को 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध है, ज्ञात है।''

सिद्धान्त :— 'इसी प्रकार इस अज्ञानी को अनादि संसार से लेकर शरीरसहित जीव ही प्रसिद्ध है, ज्ञात है; वह शुद्धजीव को नहीं जानता। उसे समझाने के लिये / शुद्धजीव का ज्ञान कराने के लिये 'जो यह शरीरवाला जीव है, वह ज्ञानमय है; शरीरमय नहीं' इस प्रकार जीव में शरीर का व्यवहार किया गया है क्योंकि उस अज्ञानी लोक को, मनुष्य जीव, तिर्यञ्च जीव, नारकी जीव, स्त्री जीव आदि ही प्रसिद्ध है; अतः व्यवहार के बिना, निश्चय के उपदेश का न होना जानना।

प्रश्न – शरीरसहित जीव की पहचान कराने से क्या लाभ रहा ?

उत्तर – 1- जिनमें जीव का संयोग नहीं है — ऐसे मेज, कुर्सी आदि समस्त द्रव्यों से दृष्टि हट गयी।

2- एकेन्द्रिय में जीव नहीं है – ऐसा कहनेवाले, मिथ्या सिद्ध हुए।

3- गाय, भैंस को मारने में पाप न माननेवाले, मिथ्या सिद्ध हुए।

प्रश्न – व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना ?

1- यहाँ व्यवहार से नर-नारक, आदि पर्यायों को जीव कहा, अतः

2- शरीरादि पर्यायों को ही जीव नहीं मान लेना,

3- यह पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप हैं।

4- वहाँ निश्चय से जानने-देखने की शक्तिवाला जीवद्रव्य भिन्न हैं, उस ही को जीव मानना।

5- जीव के संयोग से, जिनमें जानने-देखने की शक्ति नहीं है — ऐसे जड़, पुद्गल शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, वह कथनमात्र ही है।

6- परमार्थ से शरीरादि जीव होते नहीं, ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार मनुष्य, जीव है, एकेन्द्रिय आदि जीव हैं – ऐसे व्यवहारनय को अङ्गीकार नहीं करना चाहिए। ***(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 252)***

श्री समयसार, कलश 40 के भावार्थ से

'घी से भरे हुए घड़े को व्यवहार से 'घी का घड़ा' कहा जाता है, तथापि

शुभोपयोग पुण्यभावों से कभी भी मोक्षसुख की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वे प्रशस्तराग हैं। वह (प्रशस्तराग) स्वर्गसुख का कारण है और मोक्षसुख का कारण वीतरागभाव है; इसलिए कारणों में भी भेद है परन्तु अज्ञानियों को प्रतिभासित नहीं होता।

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

निश्चय से घड़ा घी स्वरूप नहीं है; घी-घी स्वरूप है; घड़ा, मिट्टी स्वरूप है। इसी प्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियों इत्यादि के साथ एक क्षेत्रावगाहसम्बन्धवाले जीव को सूत्र में व्यवहार से पञ्चेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, बादर जीव, देव जीव, मनुष्य जीव इत्यादि कहा गया है, तथापि निश्चय से जीव उस-स्वरूप नहीं है; वर्ण-पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादि पुद्गलस्वरूप है और जीव, ज्ञानस्वरूप है।' (इस प्रकार मनुष्य जीव आदि व्यवहारनय को अङ्गीकार नहीं करना चाहिए)

प्रश्न – रूपी पुद्गलों से सर्वथा भिन्न, अरूपी आत्मा की उपलब्धि के लिये उपरोक्त उपदेश की प्रेरणा हेतु आचार्य भगवान क्या कहते हैं ?

उत्तर – मनुष्य शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध अभेदात्मा की निश्चित प्राप्ति हेतु आचार्य भगवान प्रेरणासूचक काव्य कहते हैं :—

1- 'हे भव्य! तुझे अन्य **व्यर्थ ही कोलाहाल** करने से क्या लाभ है ? तू इस कोलाहल से विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल लीन होकर देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में, जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश, पुद्गल से भिन्न है — ऐसे उस आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है या होती है ?' (अर्थात्, शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति होती है)।

(श्री समयसार, कलश 34)

2- 'यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करे (उसमें लीन हो); परीषह के आने पर भी डिगे नहीं, तो घातियाकर्म का नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त हो। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है, तब मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना सुगम है; इसलिए श्रीगुरु ने (शरीर से भिन्न, निजात्मा के अनुभव का) प्रधानता से उपदेश दिया है।' *(श्री समयसार, कलश 23 के भावार्थ से)*

3- '(एक तरफ मुझ आत्मा और दूसरी तरफ सारी दुनिया) ऐसे स्व-पर के विवेक से ही मोह का क्षय किया जा सकता है। इसलिए यदि आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता हो तो जिनमार्ग से गुणों के द्वारा द्रव्यों में स्व-पर को जानो, अर्थात् जिनागम के द्वारा विशेषगुणों से ऐसा विवेक करो कि अनन्त द्रव्यों में यह स्व है और यह पर है।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 90 से)*

4- 'चेतन को है उपयोग रूप, बिन्मूरत चिन्मूरत अनूप।
पुद्गल नभ धर्म-अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल॥

जीव को सत् सुनानेवाले नहीं मिले; इसलिए वह परिभ्रमण करता है – ऐसा नहीं है परन्तु स्वयं ने आत्मा में सत् समझने की पात्रता प्रगट नहीं की तथा किसी समय सत् श्रवण का योग बना तो वहाँ रुचि नहीं की और अज्ञानभाव का सेवन चालू रखा; इसीलिए ही परिभ्रमण किया है।

मङ्गल समर्पण

1. मैं ज्ञान-दर्शन-उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ और मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है।

2. आँख, नाक, कान, औदारिक आदि शरीरोंरूप मेरी मूर्ति नहीं है।

3. चैतन्य, अरूपी, असंख्यात प्रदेशी मेरा एक आकार है।

4. सर्वज्ञस्वभावी ज्ञानपदार्थ होने से मुझ आत्मा ही अनुपम है।

5. मुझ आत्मा के अलावा, इस विश्व में अनन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक, और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं - इन सब परद्रव्यों से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है - ऐसा निज जीवतत्त्व का स्वरूप जानते-मानते ही तुरन्त धर्म की प्राप्ति हो जाती है।' *(छहढ़ाला की दूसरी ढ़ाल से)*

श्री समयसार के बन्ध-अधिकार से :—

आचार्य भगवान सिद्ध करते हैं कि जीव के मोह राग द्वेषभाव ही बन्ध के कारण हैं; परद्रव्य बन्ध का कारण नहीं है।

1. कर्मयोग्य पुद्गल से भरा लोक, बन्ध का कारण नहीं है। यदि ऐसा हो तो सिद्धों को भी बन्ध होना चाहिए।

2. मन-वचन-काय की क्रिया, बन्ध का कारण नहीं है। यदि ऐसा हो तो यथाख्यात संयमियों को भी बन्ध होना चाहिए।

3. इन्द्रियाँ, बन्ध का कारण नहीं है। यदि ऐसा हो तो केवली भगवान को भी बन्ध होना चाहिए।

4. चेतन-अचेतन वस्तु का घात भी बन्ध का कारण नहीं है। यदि ऐसा हो तो ईर्यासमितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले महामुनियों को भी बन्ध होना चाहिए।

अत: सिद्ध होता है कि एकमात्र मोह-राग-द्वेषभाव ही बन्ध का कारण है।

मोह-राग-द्वेषभाव उत्पन्न क्यों होते हैं? परद्रव्यों को अपना मानने के कारण। अत: आचार्य कहते हैं कि यदि परद्रव्यों से भिन्न, निज ज्ञानस्वरूपी आत्मा का अनुभव हो तो मोह-राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होंगे और उसी समय मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जायेगा।

7- जीव-अजीव के भेद का ज्ञान ही सम्यकज्ञान।
हे योगी, योगी कहें, मोक्ष हेतु यह जान॥ *(श्री योगसार से)*

8- 'अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-

'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ, मुझे कुछ करना-धरना ही नहीं है' — ऐसी दृष्टि होने पर, परिणाम में आनन्द का अंश प्रगट होता है; और बढ़ते-बढ़ते पूर्णता हो जाती है।

– **श्री निहालचन्द्र सोगानी**

निधन, वस्तु आप है। मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णसहित, नवीन जिनका संयोग हुआ है, ऐसे कैलाशचन्द्र शरीरादि पुद्गल पर हैं' — ऐसा स्व-पर का का भेद जानते ही दु:ख, अर्थात् मिथ्यात्व का अभाव होकर, सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 38 से)

9- मुझ आत्मा, कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध अभेदात्मा है, तो फिर झगड़ा क्या है और क्यों पैदा हुआ ?

जैसे, दर्पण में पदार्थ झलकते हैं परन्तु पदार्थ, दर्पण में आये नहीं; दर्पण अपनी स्वच्छता से एकमेक है; पदार्थों से नहीं। उसी प्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा में ज्ञान की पर्याय होती है, जिसका स्व -पर प्रकाशक स्वभाव होने के कारण, परपदार्थ उसमें निमित्त पड़ते हैं परन्तु पदार्थ, ज्ञान में घुसते नहीं। आत्मा तो अपने ज्ञान से तन्मय है; पदार्थों से नहीं; ऐसा पता न होने के कारण, अज्ञानी उन पदार्थों में किसी को इष्ट और किसी को अनिष्ट मानकर रागी द्वेषी होता हुआ संसार में धक्के खाता रहता है। यदि ज्ञेयों से सर्वथा भिन्न, निज ज्ञानस्वरूपी आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान हो तो उसी समय संसार का अभाव होकर, मोक्ष का पथिक बन जाता है।

10- 'यदि लक्षणादि द्वारा जीव-अजीव की पहचान हो तो स्व-पर की भिन्नता भासित हो, फिर जिन पदार्थों के अन्यथा श्रद्धान से दु:ख होता था, उनका यथार्थ ज्ञान होने से दु:ख का अभाव होकर, सुख की प्राप्ति हो।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, गाथा 78 से)

प्रश्न - अनन्त ज्ञानियों का एक ही मत है, कि कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, निज ज्ञायक भगवान आत्मा का अनुभव ही धर्म है — तो आचार्यों ने व्यवहार द्वारा निश्चय आत्मा का जो उपदेश दिया है, उसे हम किस प्रकार ग्रहण करें कि हमारा कल्याण हो ?

उत्तर - (1) मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना तथा मैं ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ — ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना।

(2) जो व्यवहार में सोता है :— अर्थात् मैं कैलाशचन्द्र हूँ, ऐसे

अपने शुद्धस्वभाव का भान होने पर भी निचलीदशा में धर्मी की भी पूजा, भक्ति, व्रतादि शुभभाव हुए बिना नहीं रहते परन्तु वह जानता है कि यह शुभभाव मेरे स्वद्रव्यानुसार नहीं होता; अपितु परद्रव्यानुसार, अर्थात् पर का अनुसरण करके होता है; इस कारण यह मेरा स्वभाव नहीं है। वास्तव में वह धर्मीजीव, शुभराग को अपने से भिन्न, परज्ञेयरूप जानता है और आत्मा की स्व-सन्मुखता की भावना करता है।

व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसे निश्यचनय का श्रद्धान करता है – वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है।

(3) जो व्यवहार में जागता है – अर्थात् मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं कैलाशचन्द्र हूँ, वह भोगी अपने आत्मकार्य में सोता है।

(4) इसलिए मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसे व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसे निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।

(5) **व्यवहारनय** = स्व–द्रव्य, मुझ ज्ञायक भगवान आत्मा और परद्रव्य – कैलाशचन्द्र शरीर को–किसी को किसी में मिलाकर ऐसा निरूपण करता है कि मैं कैलाशचन्द्र हूँ। सो मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसे ही श्रद्धान से गृहीत मिथ्यात्व की पुष्टि होकर, चारों गतियों में घूमकर निगोद चला जाता है, अत: मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसे व्यवहारनय के श्रद्धान का त्याग करना।

(6) **निश्चयनय** – उन्हीं को, अर्थात् मुझ ज्ञायक भगवान आत्मा और परद्रव्य – कैलाशचन्द्र को – किसी को किसी में मिलाकर निरूपण नहीं करता, यथावत् निरूपण करता है कि मैं ज्ञायक भगवान हूँ; कैलाशचन्द्र नहीं हूँ। सो मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसे निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व की प्राप्ति होकर क्रम से श्रावकपना, मुनिपना, श्रेणी, अरहन्त और सिद्धदशा की प्राप्ति होती है; अत: मैं ज्ञायक भगवान हूँ–ऐसे निश्चयनय के श्रद्धान को अङ्गीकार करना।

(7) **प्रश्न** – आप कहते हो कि मैं कैलाशचन्द्र हूँ – ऐसे व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; अत: उसका त्याग करना तथा मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसे निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। अत: उसका ग्रहण करना – परन्तु शास्त्रों में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

उत्तर – **(ए)** जिनवाणी में जहाँ मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसे निश्चनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है, सत्यार्थ ऐसे ही है।', ऐसा जानना।

(बी) तथा कहीं मैं कैलाशचन्द्र हूँ – ऐसे व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे 'ऐसा है नहीं' 'ऐसा है नहीं' 'निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है', ऐसा जानना।

(8) 'मैं ज्ञायक भगवान हूँ; कैलाशचन्द्र नहीं हूँ' — इस प्रकार जानने का

दृष्टि का विषयभूत द्रव्य एकान्त कूटस्थ ही है। पर्याय की अपेक्षा से पर्याय एकान्त अनित्य ही है। (— यह सम्यक् एकान्त है।)

– **श्री निहालचन्द्र सोगानी**

नाम ही निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण है। 'मैं ज्ञायक भगवान भी हूँ और मैं कैलाशचन्द्र भी हूँ' — इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार के स्वरूप को यथार्थ समझ कर अभ्यास करे तो तुरन्त धर्म की प्राप्ति होकर, क्रम से मोक्ष की प्राप्ति हो।

प्रश्न – समयसार की इन गाथाओं में पुद्गल की 27 पर्यायों से भिन्नता का ज्ञान क्यों कराया है ?

उत्तर – पुद्गल की 27 पर्यायों में ही अनादि से पागल बना होने के कारण, मैं संसार में भटक रहा हूँ। अब इन 27 पर्यायों से भिन्न, निज अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अवर्ण, अशब्द स्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय लेकर, संसार के जन्म-मरण से छूटकर, उत्तम अविनाशी सुख को प्राप्त करूँ — इस कारण 27 पर्यायों से भिन्नता का ज्ञान कराया गया है।

प्रश्न – रूपी 27 पर्यायों के बारे में क्या निर्णय करना है ?

उत्तर – 1- शास्त्र, शब्द, गुरु का वचन, दिव्यध्वनि से, मुझ अशब्द स्वभावी भगवान आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा अनादि से जिनदेव कहते हैं।

2- काला-पीला-नीला-लाल-सफेदरूप वर्णों के साथ व किसी प्रकार के आकार के साथ, मुझ अवर्णस्वभावी भगवान आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा अनादि से जिनदेवों ने कहा है।

3- सुगन्ध-दुर्गन्ध के साथ, मुझ अगन्धस्वभावी भगवान आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा अनादि से जिनदेवों ने कहा है।

4- खट्टा-मीठा-कड़वा-चरपरा-कषायला के साथ, मुझ अरसस्वभावी भगवान आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा अनादि से जिनदेवों ने कहा है।

5- हल्का-भारी, ठण्डा-गरम, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम के साथ, मुझ अस्पर्शस्वभावी भगवान आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा अनादि से जिनदेवों ने कहा है।

6- आठ कर्म, धर्म-अधर्म-आकाश-काल, कर्म के उदयरूप अध्यवसान के साथ, मुझ ज्ञान-स्वभावी आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा अनादि से जिनदेवों ने कहा है।

शुभराग में देव-शास्त्र-गुरु आदि पर का लक्ष्य होता है और अशुभभाव में स्त्री, पुत्र, शरीरादि पर का लक्ष्य होता है। कोई शुभाशुभभाव हो, वह पर की सन्मुखता से होता है। आत्मा की सन्मुखता से शुभाशुभभाव की उत्पत्ति नहीं होती; शुद्धभाव की ही उत्पत्ति होती है।

मङ्गल समर्पण

अपने द्रव्य में दृष्टि तादात्म्य होते ही ज्ञान, प्रमाण हो जाता है; तव ज्ञान (अन्य) सभी बातें (यथार्थपने से) जान लेता है।

– **श्री निहालचन्द्र सोगानी**

प्रश्न – संसार क्या है और मोक्ष क्या है ?

उत्तर – दर्शन–ज्ञान ज्योतिस्वरूप निज आत्मा को भूलकर, पुद्गल की इन 27 पर्यायों में 'यह मैं' इसका नाम संसार है और इन 27 पर्यायों से सर्वथा भिन्न, निज अरूपी ज्ञानस्वभावी आत्मा में 'यह मैं' इसका नाम मोक्ष है।

प्रश्न – पुद्गल की इन रूपी 27 पर्यायों से मैं भिन्न हूँ — ऐसा शास्त्रों में कहाँ आया है ?

उत्तर – **श्री समयसार, गाथा 85 में कहा है :—** यदि आत्मा इन पुद्गलकर्म को करे और उसी को भोगे तो वह आत्मा दो क्रियाओं से अभिन्न ठहरे — ऐसा प्रसङ्ग आता है, जोकि जिनदेव को सम्मत नहीं है।

श्री समयसार, कलश 62 में कहा है :— आत्मा, ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे ? आत्मा, परभाव का कर्ता है — ऐसा मानना तथा कहना, सो व्यवहारी जीवों का मोह है।

श्री समयसार, गाथा 49 में कहा है :— हे भव्य ! तू जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त, अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं, ऐसा; चेतना जिसका गुण है, ऐसा; शब्दरहित, किसी चिह्न से ग्रहण न होनेवाला और जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता है — ऐसा जान।

श्री समयसार, कलश 210 में कहा है :– जीव अथवा पुद्गलद्रव्य अपने परिणामों के साथ व्याप्य–व्यापकरूप परिणमता है। (क्योंकि) अन्य द्रव्य का, अन्य द्रव्य कर्ता, अन्य द्रव्य का परिणाम, अन्य द्रव्य का कर्म, ऐसा तो अनुभव में घटता नहीं। कारण कि दो द्रव्यों का व्याप्य–व्याकपना नहीं है।

श्री समयसार, गाथा 214 में कहा :– जीव, ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म को करता है, भोगता है — ऐसा झूठे व्यवहार से कहने को है। द्रव्य के स्वरूप का विचार करने पर, परद्रव्य का कर्ता जीव नहीं है।

इसी प्रकार समस्त शास्त्रों में इन 27 पर्यायों से जीव को भिन्न बतलाकर, निज ज्ञानस्वभावी आत्मा के आश्रय की प्रेरणा की है, ताकि जीव, दु:खों से छूटकर, सुख की प्राप्ति कर सके।

प्रश्न – जीवपदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि क्यों है ?

उत्तर – स्व–पर का यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान होने के कारण।

प्रश्न – स्व-पर के यथार्थश्रद्धान के लिये क्या करें ?

उत्तर – स्व-पर का ज्ञान करें कि स्व क्या है और पर क्या है ?

1- स्व = अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादिनिधन, वस्तु स्व है।

2- पर = मूर्तिक पुद्‌गल द्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित, स्पर्श रस-गन्ध वर्ण सहित, नवीन जिनका संयोग हुआ है — ऐसे शरीरादि पुद्‌गल पर हैं।

ऐसा स्व-पर का भेदज्ञान होते ही मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है।

2- ए- एक जीवद्रव्य, उसके अनन्त गुण, उनकी अनन्त पर्यायें, एक-एक गुण के असंख्यात प्रदेश। (बस यह जीव की सत्ता है।)

बी- एक-एक प्रदेश पर अनन्त कर्मवर्गणाएँ, एक-एक कर्मवर्गणा में अनन्त-अनन्त पुद्‌गल परमाणु, एक-एक पुद्‌गल-परमाणु अनन्त-गुण, अनन्त पर्यायसहित विराजमान।

— यह एक संसार अवस्थित जीव पिण्ड की अवस्था। (इसमें जीवद्रव्य, अर्थात् मुझ आत्मा सर्वथा भिन्न है और संयोगरूप अनन्त पुद्‌गलद्रव्य, सर्वथा भिन्न हैं। मुझ आत्मा से किसी भी अपेक्षा किसी भी प्रकार का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है – ऐसा जानते-मानते ही मिथ्यात्व का अभाव)

1- मुझ आत्मा, देखने जाननेरूप चेतनागुण का धारक है।

2- मुझ आत्मा, इन्द्रियगम्य न होने योग्य, अमूर्तिक है।

3- मुझ आत्मा, संकोच-विस्तार शक्तिसहित असंख्यात प्रदेशी एक द्रव्य है।

4- शरीर व कर्म, चेतनागुण रहित जड़ हैं।

5- शरीर व कर्म, मूर्तिक हैं।

6- अनन्त पुद्‌गल परमाणुओं का पिण्ड होने से एक द्रव्य नहीं; अनेक द्रव्य हैं।

मुझ आत्मा व शरीर+कर्म का अनादि सम्बन्ध है।

7- तो भी मुझ जीव का कोई प्रदेश, शरीर व कर्मरूप नहीं होता।

8- शरीर व कर्म का कोई परमाणु, मुझ जीवरूप नहीं होता।

आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञान की निधि है। उस आत्मा को पुण्य-पाप जितना मानना, अज्ञान है। जो पुण्य-पापभाव होते हैं, वे अशुद्धभाव हैं, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। आत्मा तो चैतन्यशक्ति से अखण्डित प्रतापवाला है – ऐसे आत्मा का आश्रय करने से शुद्धभाव होता है।

मङ्गल समर्पण

बहिर्मुख होने से ज्ञान खिलता नहीं और अन्तर्मुख होने से भीतर से ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। अपनी ओर ही देखने की बात है।

– **श्री निहालचन्द्र सोगानी**

9– अपने-अपने लक्षण को धारण किये भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।

10– इस असमानजातीय द्रव्यपर्यायरूप बन्धान में कोई किसी को करता तो है नहीं।

11– जब तक बन्धान रहे, साथ रहें, बिछुड़े नहीं।

12– कारण-कार्यपना, अर्थात् निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध उनके बना रहे, इतना ही यहाँ बन्धान जानना।

इस प्रकार निजात्मा व अनन्त पुद्गल परमाणुओं का पिण्डरूप शरीर की भिन्नता का ज्ञान होते ही मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है।

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 23-24 से)

4– 'परद्रव्यन् तैं भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है, आपरूप को जानपनों सो सम्यक्ज्ञान कला है, पर द्रव्यन् तैं भिन्न आपरूप में लीन रहे, थिर सम्यक्चारित्र सोई।' *(छहढ़ाला, तीसरी ढ़ाल)*

5– धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, परद्रव्यों में आत्मबुद्धि छोड़कर, अपने ज्ञाता-दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव और ज्ञायकस्वभाव में ही प्रवर्तनरूप जो आचरण है, वह धर्म है। *(श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा 2)*

6– जो अपना और अन्य द्रव्यों का सत्यार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरण है — वह तो संसार परिभ्रमण से छुड़ाकर, उत्तम सुख में धरनेवाला धर्म है और अपना व अन्य द्रव्यों का असत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण है, वह संसार के घोर अनन्त दु:खों में डुबोनेवाले हैं — ऐसा वीतराग भगवान कहते हैं।

प्रश्न – ज्ञान, अरूपी है — इसको समझने के लिये किस प्रकार अभ्यास करें ?

उत्तर – निश्चय-व्यवहार के दस प्रश्नों को लगाकर अभ्यास करें।

प्रश्न – 'ज्ञान, अरूपी है' — इस निर्णय के लिये क्या अभ्यास करें ?

उत्तर – कर्ता-कर्मसम्बन्ध एक द्रव्य का, उसकी पर्याय में ही होता है; दो भिन्न द्रव्यों में नहीं।

किस प्रकार अभ्यास करें :- जैसे = मैं उठा। तो.....

4. मुझ आत्मा, कर्ता और कैलाशचन्द्र शरीर उठा, कर्म — क्या यह कर्ता-कर्म का ज्ञान ठीक है ?

बिल्कुल ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर कैलाशचन्द्ररूप आहारवर्गणा त्रिकाली उपादानकारण और कैलाशचन्द्र शरीर उठा, यह कार्य है।

5. यदि कोई चतुर ऐसा ही माने कि मुझ आत्मा, व्यापक और कैलाशचन्द्र शरीर उठा, व्याप्य — तो क्या दोष आता है ?

यदि मुझ आत्मा नष्ट होकर कैलाशचन्द्ररूप आहारवर्गणा बन जावे तो ऐसा माना जा सकता है कि मुझ आत्मा, व्यापक और कैलाशचन्द्र उठा, व्याप्य; लेकिन ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि कर्ता-कर्मसम्बन्ध एक द्रव्य का, उसकी पर्याय में ही होता है; दो भिन्न द्रव्यों में नहीं होता।

इससे लाभ क्या रहा ?

जैसे उठना कार्य, सर्वथा आहारवर्गणा का ही है, मुझ आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार जितना सुबह से शाम तक का रूपीकार्य ज्ञान में दिखता है, वह सर्वथा पुद्गल का है; आत्मा का नहीं — ऐसा जानते-मानते ही शरीरादि परद्रव्यों से दृष्टि हटकर, अरूपी आत्मा पर आ जाती है। तभी 'ज्ञान, अरूपी है' ऐसा निर्णय हुआ कहलायेगा।

प्रश्न – 'ज्ञान, अरूपी है' – इससे क्या निर्णय होता है ?

उत्तर – रूपी पुद्गलादि का, मुझ अरूपी ज्ञानस्वभावी आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार स्व-पर का श्रद्धान ही धर्म की शुरुआत है। अत:—

'तास ज्ञान को कारण, स्व-पर विवेक बखानौ।
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आनौ॥'

(छहढ़ाला, चौथी ढ़ाल)

'जे पूरब शिव गये, जाँहि अरू आगे जे हैं।
ते सब महिमा ज्ञान तनी, मुनिनाथ कहैं हैं॥'

(छहढ़ाला चौथी ढ़ाल)

'भेदविज्ञानत: सिद्धा-सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥'

(श्री समयसार, कलश 131)

'केवल यह (स्व-पर का भेदविज्ञान) एक ही मोक्ष का मार्ग है; दूसरा नहीं।'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 199)

आत्मा के अन्तर स्वभाव के अवलम्बन के अतिरिक्त, अन्य किसी का भी अवलम्बन लेना परद्रव्यानुसार परिणति है और उससे शुभ-अशुभभाव की उत्पत्ति होती है, जो कि बन्धन का कारण है। अहो! स्वद्रव्यानुसार परिणति, वह धर्म और परद्रव्यानुसार परिणति, वह विकार – ऐसा समझने पर, स्व-पर का भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहता और वह जीव, परद्रव्यानुसार परिणति को छोड़कर, स्वद्रव्य-सन्मुख हुए बिना नहीं रहता।

श्री समयसार, गाथा 270 के अनुसार भेदविज्ञान करें - तो 'ज्ञान, अरूपी है' — ऐसा निर्णय हो। द्रव्य अपेक्षा —

अगृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र — मैं ज्ञायक भगवान हूँ — इस बात का पता न होने से, मैं कैलाशचन्द्र जैन हूँ — ऐसा अनादि काल का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण, अगृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

गृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र — मैं ज्ञायक भगवान हूँ - इस बात का पता न होने से, दूसरों के कहने से, मैं कैलाशचन्द्र जैन हूँ — ऐसा दृढ़ श्रद्धान-ज्ञान-आचरण, गृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — कैलाशचन्द्र जैन से सर्वथा भिन्न, निज ज्ञायक भगवान आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण, निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

गुण अपेक्षा —

अगृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र — ज्ञान, मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से आता है और सुख, मुझ आत्मा के सुखगुण में से आता है — इस बात का पता न होने से, ज्ञेयों से, इन्द्रियों से व कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान होता है और पाँच इन्द्रियों के विषयों से सुख होता है - ऐसा अनादि काल का श्रद्धान -ज्ञान-आचरण, अगृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

गृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र — ज्ञान, मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से आता है और सुख, मुझ आत्मा के सुखगुण में से आता है — इस रहस्य का पता न होने से, दूसरों के कहने से ज्ञेयों से, पाँच इन्द्रियों के विषयों से, कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान होता है, पाँचों इन्द्रिय के विषयों से सुख होता है - ऐसा दृढ़ श्रद्धान-ज्ञान-आचरण, गृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — ज्ञान, मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से आता है; सुख, मुझ आत्मा के सुखगुण में से आता है — इस रहस्य का पता न होने से, ज्ञेयों से, इन्द्रियों से, कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान होता है तथा पाँचों इन्द्रियों के विषयों से सुख होता है -ऐसा मानता था, तो संसार का ही पात्र था।

ज्ञेयों से, इन्द्रियों से, पाँचों इन्द्रियों के विषयों से सर्वथा भिन्न, ज्ञान, मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से आता है और सुख, मुझ आत्मा के सुखगुण में से आता है

दूसरे से सुनना-माँगना-सब पामरता है, दीनता है, भिखारीपना है। मेरे में क्या कमी है, जो मैं दूसरे से माँगूँ! 'मैं तो स्वयं ही परिपूर्ण हूँ।'

- श्री निहालचन्द्र सोगानी

— ऐसा जानकर, सुखस्वरूप-ज्ञानस्वरूप निजात्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण, निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

'पर्याय अपेक्षा भेदविज्ञान'

अगृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र — मुझ आत्मा का कार्य, ज्ञाता-दृष्टा है — इस बात का पता न होने से, मैं उठता-बैठता, खाता-पीता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं घर का काम-काज करता हूँ — ऐसा अनादि काल का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण, अगृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

गृहीतमिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र — मुझ आत्मा का कार्य, ज्ञाता-दृष्टा है — इस बात का पता न होने से, मैं उठता-बैठता, खाता-पीता हूँ, मैं बोलता हूँ, मैं घर का काम-काज करता हूँ — ऐसा दृढ़ श्रद्धान-ज्ञान-आचरा, गृहीतमिथ्या -दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — उठने-बैठने आदि शरीर के कार्यों से सर्वथा भिन्न, मुझ आत्मा का कार्य, ज्ञाता-दृष्टा है — ऐसा जानकर, निज आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण, निश्चय-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

निश्चयसम्यक्ज्ञान — उठने-बैठने आदि शरीर के कार्यों से सर्वथा भिन्न, मुझ आत्मा का कार्य ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसा जानकर, निज आत्मा का ज्ञान, निश्चयसम्यकज्ञान है।

निष्कर्ष यह है कि —

1- मैं ज्ञायक भगवान आत्मा ही हूँ; कैलाशचन्द्र नहीं हूँ,;

2- ज्ञान व सुख, मुझ आत्मा में से ही आता है; ज्ञेयों से, पाँच इन्द्रियों के विषयों में से नहीं आता,

3- मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा ही है; उठने-बैठने आदि रूपी कार्यों से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा निर्णय हो तो **'ज्ञान, अरूपी है'** यह निर्णय हुआ कहलायेगा।

ज्ञान, अविकारी है

प्रश्न - ज्ञान, अर्थात् क्या ?

उत्तर - ज्ञान, अर्थात् मुझ आत्मा। कैसा आत्मा ? अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन, वस्तुरूप मुझ आत्मा है।

आत्मा, देह-मन-वाणी की क्रिया को तो व्यवहार से भी नहीं कर सकता क्योंकि वे तो आत्मा से भिन्न पदार्थ हैं। पर के अवलम्बन से होनेवाले पुण्य-पापभावों का कर्ता, व्यवहार से आत्मा है; परमार्थ स्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा उन पुण्य-पापभावों का कर्ता भी नहीं है।

प्रश्न – ज्ञान, अविकारी है से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – निज ज्ञायक भगवान आत्मा के आश्रय से ही विकार का अभाव होता है, धर्म की प्राप्ति होती है; किसी भी प्रकार के शुभभाव व शरीर की क्रिया से धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। आत्मा, विकार को जानता है, यह अलग बात है परन्तु कभी भी विकाररूप नहीं होता।

यही श्री समयसार, गाथा 181 से 183 में कहा है — 'उपयोग तो चैतन्य का परिणाम होने से, ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि जड़कर्म तथा शरीरादि नोकर्म, सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से, जड़ हैं। उनमें और ज्ञान में प्रदेशभेद होने से अत्यन्त भेद है; इसलिए उपयोग में क्रोधादि आस्रव नहीं है और क्रोधादि आस्रवों में उपयोग नहीं है।'

श्री समयसार, कलश 126में कहते हैं :- 'ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादि पुद्गल, विकार होने से जड़ है। जब अन्तरङ्ग में ज्ञान और रागादि का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान प्रगट होता है, तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है। ज्ञान में जो रागादि की कलुषता, आकुलतारूप संकल्प-विकल्प भासित होते हैं, वे सब पुद्गल-विकार हैं, जड़ हैं। इस प्रकार ज्ञान और रागादि के भेद का स्वाद आता है, अर्थात् अनुभव होता है, तब आत्मा आनन्दित होता है।'

श्री समयसार, कलश 131 में कहते हैं – 'आचार्य भगवान कहते हैं कि जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे (आत्मा और आस्रव के) भेदज्ञान से ही हुए हैं और जो कोई बँधे हैं, वे उसी के (आत्मा और आस्रव के भेदविज्ञान के) अभाव से ही बँधे हैं। (अत: शीघ्र ही भेदविज्ञान करके, मोक्ष का पथिक बनने में ही इस अमूल्य भव की सार्थकता है।)'

प्रश्न – 'आत्मा और आस्रव का भेदविज्ञान' करने के लिये, अर्थात् **'ज्ञान, अविकारी है'** — इस निर्णय के लिये क्या जानना आवश्यक है ?

उत्तर – जीवबन्ध का ज्ञान आवश्यक है।

जीवबन्ध, अर्थात् जिस सम्बन्ध विशेष से आत्मा और आस्रवों में एकपने का ज्ञान होता है, उस सम्बन्ध विशेष को जीवबन्ध कहते हैं।

जीवबन्ध की परिभाषा में चार बातें

1- सम्बन्ध विशेष होना चाहिए, 2- अनेक वस्तुएँ होनी चाहिए,

जब दृष्टि अपने स्वभाव में प्रसर जाती है, तब पाँचों समवाय अपने ज्ञान में ज्ञेय हो जाते हैं।
– **श्री निहालचन्द्र सोगानी**

3– बाहरीरूप से देखने और कहने में एक आनी चाहिए, 4– ज्ञान में जैसा–जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा–वैसा ही आना चाहिए।

मैं क्रोधी हूँ – इस पर जीव बन्ध का स्पष्टीकरण

– मैं क्रोधी हूँ — यह जीवबन्ध है।

1– मैं क्रोधी हूँ — यह सम्बन्ध विशेष है।

2– मुझ आत्मा और क्रोध का भाव – यह अनेक वस्तुएँ हुयीं।

3– बाहरी रूप से देखने और कहने में आता है कि 'मैं क्रोधी हूँ।'

4– ज्ञान में आना चाहिए कि मुझ आत्मा, अबन्धस्वभावी है और क्रोध का भाव, बन्धस्वभावी है — ऐसा जानकर, अपनी ज्ञान की पर्याय को अबन्धस्वभावी निजात्मा की ओर झुका दे तो बन्धभाव, अर्थात् क्रोध का भाव अलग पड़ जायेगा।

लाभ — अब, जैसे–जैसे अबन्धस्वभावी निजात्मा में एकाग्र होता चला जाएगा, बन्धभाव भिन्न पड़ता चला जाएगा और जितना–जितना सम्यक् प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है, उतना विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है।

अत: सिद्ध होता है कि आत्मा और आस्रव — दोनों सर्वथा भिन्न–भिन्न हैं।

प्रश्न – आपने बताया कि आत्मा और आस्रव भिन्न–भिन्न हैं लेकिन आस्रव होते तो जीव की पर्याय में ही हैं, तब आस्रवों का आत्मा के साथ कैसा सम्बन्ध हैं ?

उत्तर – सम्बन्ध तीन प्रकार के हैं – 1– तादातमयसिद्ध सम्बन्ध–आत्मा का ज्ञान–दर्शनादि गुणों के साथ, 2– संयोगसिद्ध सम्बन्ध – आत्मा का शुभाशुभ –विकारों के साथ, 3– परस्परअवगाहसिद्ध सम्बन्ध–आत्मा का आठ कर्मों के साथ।

निष्कर्ष — कैलाशचन्द्र जैन शरीर, पत्नी, बच्चे, मकान, वस्त्र, आभूषण, कार, रूपया–पैसा आदि के साथ मुझ आत्मा का किसी भी अपेक्षा, किसी भी प्रकार का, सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। जिनसे किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है, उनसे अपना सम्बन्ध मानने के कारण पर्याय में संयोगसिद्ध–सम्बन्ध, अर्थात् शुभाशुभविकारीभावों की उत्पत्ति होती है, जिसके फलस्वरूप चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है। कैलाशचन्द्र जैन रूप शरीरादि अजीवतत्त्वों से अपना सम्बन्ध न माने तो संयोगसिद्धसम्बन्ध उत्पन्न नहीं होगा; तादात्म्यसिद्ध–

कर्म, आत्मा को विकार नहीं कराते परन्तु आत्मा की परद्रव्यानुसार परिणति ही अशुद्ध उपयोग का कारण है; अन्य कोई कारण नहीं है। आत्मा का स्वभाव, अशुद्ध उपयोग का कारण नहीं है तथा कर्म का उदय आदि अन्य कारण भी अशुद्ध उपयोग के कारण नहीं हैं। कर्म तो आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय है। परद्रव्यानुसार परिणति– यह एक ही अशुद्धता का कारण है और स्वद्रव्यानुसार परिणति – यह एक ही शुद्धता का कारण है; अन्य कोई कारण नहीं है – ऐसा अस्ति–नास्ति अनेकान्त है। परद्रव्य को आत्मा के विकार करानेवाला मानना, वह एकान्त है।

सम्बन्ध पर दृष्टि आ जाएगी और संसार का अभाव होकर, पञ्चम गति मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी।

'अत: सिद्ध होता है कि विकार, अर्थात् शुभभाव से धर्म का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।'

प्रश्न – विकार, आत्मा नहीं है — ऐसा शास्त्र में कहाँ आया है ?

उत्तर – शास्त्रों में यह वस्तुस्वरूप भरा पड़ा है।

आचार्य अमृतचन्द्र भगवान कहते हैं :—

1– वस्तुस्वरूप :– 'इस जगत में वस्तु है, वह अपने स्वभावमात्र ही है, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने गुण–पर्यायों में ही रहता है; अत: स्व का भवन होना, वह स्वभाव है। अत: निश्चय से ज्ञान का होना–परिणमना, सो आत्मा है और क्रोधादि का होना–परिणमना, सो क्रोधादि है। (अनात्मा है; आत्मा नहीं है)'

(श्री समयसार, गाथा 71)

जगत = **ज,** अर्थात् जन्म; गत, अर्थात् नाश। जहाँ जन्म, अर्थात् उत्पाद है और नाश, अर्थात् व्यय है, वहाँ ध्रौव्य भी जानना — ऐसा पूज्य गुरुदेव ने जगत शब्द का अर्थ बताया। जगत शब्द से सम्पूर्ण विश्व की पारमेश्वरी व्यवस्था ध्यान में आये और स्वभाव का आश्रय हो तो 'जगत' शब्द को माना।

स्वभावमात्र (अ) — प्रत्येक द्रव्य में अनन्त–अनन्त गुण हैं, प्रत्येक गुण में एक ही समय में एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण, ध्रौव्य रहता है — ऐसा प्रत्येक वस्तु का 'स्वभावमात्र' है — ऐसा निर्णय होते ही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की प्राप्ति हो जाती है, जो कि आत्मा का स्वभाव है और क्रोधादि का अभाव हो जाता है, जो कि आत्मा का स्वभाव नहीं है।

(ब) प्रत्येक वस्तु, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुण; अनन्त–अनन्त विशेषगुण; एक व्यंजनपर्याय; और अनन्त अर्थपर्यायों सहित, अपनी–अपनी सत्ता में विराजती है। एक वस्तु का, दूसरी वस्तु से स्वामीपने, कर्तापने, भोक्तापने का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा प्रत्येक वस्तु का 'स्वभावमात्र' है। ऐसा निर्णय होते ही सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होकर, क्रोधादि का सर्वथा अभाव हो जाता है।

(2) ज्ञानीपना — 'तथा ज्ञान का जो होना–परिणमना है, सो क्रोधादि का भी होना–परिणमना नहीं है क्योंकि ज्ञान के होते समय जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है, वैसे क्रोधादि भी होते हुए मालूम नहीं पड़ते हैं।'

मङ्गल समर्पण

देखो! इस चैतन्यस्वरूप की अद्भुत महिमा! उसके ज्ञानस्वभाव में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव झलकते हैं किन्तु वह स्वयं ज्ञेयरूप नहीं परिणमता है और उस झलकने में (जानने में) विकल्प का अंश भी नहीं है; इसलिए उसके निर्विकल्प, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित और अखण्ड सुख उत्पन्न होता है। ऐसा सुख संसार में नहीं है; संसार में तो दु:ख ही है।

– पण्डित गुमानीराम

टीका के पहले हिस्से में आचार्य भगवान ने जो वस्तुस्वरूप बताया है, उसको अङ्गीकार करते ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् ज्ञानी बन जाता है। जिसको निज भगवान का अनुभव हुआ है, उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता हुआ अपना ही मालूम पड़ता है; क्रोधादि अपने मालूम नहीं पड़ते। ज्ञानी, क्रोधादि भावों को श्रद्धा-अपेक्षा अपना सर्वथा नहीं मानता; ज्ञान की अपेक्षा ज्ञान का ज्ञेय और हेय जानता है; चारित्र अपेक्षा जितना दोष है, उतना बन्ध का कारण है। दृष्टि एक समय भी अपने त्रिकाली स्वभाव से नहीं हटती; अतः शुद्धि में वृद्धि करता हुआ सम्पूर्ण शुद्धि / मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। (इससे भी सिद्ध होता है कि विकार, आत्मा नहीं है।)

(3) **अज्ञानीपना** – 'क्रोधादि का भी होना-परिणमना है, वह ज्ञान का भी होना-परिणमना नहीं है क्योंकि क्रोधादि के होने के समय जैसे क्रोधादिक होते हुए मालूम पड़ते हैं, वैसे ज्ञान भी होता हुआ मालूम नहीं पड़ता।'

टीका के पहले हिस्से में आचार्य भगवान ने जो वस्तुस्वरूप बताया है, उसको जो स्वीकार नहीं करता, वह क्रोधादि, अर्थात् मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ही परिणमन करता है, उसको कभी आत्मा का आश्रय नहीं होता, सुख प्रगट नहीं होता। उसको आस्रव और अजीव ही अपने भासित होते हैं, अपने स्वरूप की पहचान नहीं होती और चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है।

(4) **आत्मा और क्रोधादि का भिन्नपना** — 'इस प्रकार क्रोधादि के और आत्मा के निश्चय से एकवस्तुत्व नहीं है।'

टीका के दूसरे व तीसरे हिस्से में आचार्य भगवान ने स्पष्ट किया है कि जिसको आत्मा अपना भासित होता है, उसे क्रोधादि अपने भासित नहीं होते और जिसे क्रोधादि अपने भासित होते हैं, उसे आत्मा अपना भासित नहीं होता; अतः सिद्ध होता है कि क्रोधादि के और आत्मा के निश्चय से एकवस्तुत्व नहीं है, अर्थात् आत्मा और क्रोधादि दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं।

(5) **कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से निवृत्ति** — 'इस प्रकार आत्मा और आस्रवों का विशेष (अन्तर) देखने से, जब यह आत्मा उनका भेद जानता है, तब इस आत्मा के अनादि होने पर भी, अज्ञान से उत्पन्न हुयी ऐसी पर में कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति की निवृत्ति होती है।'

शास्त्र में व्यवहाररत्नत्रय को निश्चयरत्नत्रय का कारण कहा हो तो यह बात उपचार की है; यहाँ तो व्यवहाररत्नत्रय को हेय कहकर, उसका आश्रय छुड़ाया है क्योंकि वस्तुतः व्यवहाररत्नत्रय, निश्चयरत्नत्रय का कारण नहीं है। निश्चयरत्नत्रय का कारण तो स्वद्रव्यानुसार परिणति ही है, कारण कि व्यवहाररत्नत्रय तो शुभोपयोगरूप है, जबकि निश्चयरत्नत्रय, शुद्धोपयोगरूप है।

टीका के उपरोक्त चार हिस्सों में आचार्य भगवान ने अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा और क्रोधादि भाव, दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। जिस समय दोनों का अन्तर जाना कि मुझ आत्मा, अबन्धस्वभावी है और क्रोधादिभाव, बन्धस्वभावी हैं, उसी समय अनादि काल से एक-एक समय करके चली आ रही कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति क्या है ? मुझ आत्मा, कर्ता और क्रोधादि भाव, मेरा कर्म। आत्मा और क्रोधादि का अन्तर जानते ही इस कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव होकर, मोक्ष का पथिक बन जाता है।

(6) **द्रव्यकर्म के बन्ध का अभाव** —'उसकी निवृत्ति होने पर (कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से निवृत्ति होने पर) अज्ञान के निमित्त से उत्पन्न होता हुआ पोद्‍गलिक द्रव्यकर्म का बन्ध भी निवृत्त होता है। ऐसा होने पर, ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।'

मुझ आत्मा, अबन्धस्वभावी है और क्रोधादि भाव, बन्धस्वभावी हैं — ऐसा जानकर, अबन्धस्वभावी आत्मा का आश्रय होते ही कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है और कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के निमित्त से जो आठ कर्मों का बन्ध होता था, उसका भी निरोध हो जाता है। अत: सिद्ध होता है कि आत्मा और आस्रवों के भेद का ज्ञान होते ही, बन्ध का निरोध होता है। यह भेदज्ञान ही धर्म है। इस प्रकार धर्म की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार के विकार की, शुभभाव व शरीर की क्रिया की किञ्चित्मात्र आवश्यकता नहीं है।

आत्मा और आस्रवों की भिन्नता के विशेष स्पष्टीकरण के लिये —

श्री समयसार, गाथा 72 का रहस्य

प्रश्न - जिज्ञासु शिष्य है, निज आत्मा की प्राप्ति का इच्छुक है, रुपये-पैसे का, शरीरादि संयोगों का इच्छुक नहीं है — गुरु की बात पर आश्चर्य उत्पन्न करता है कि क्या ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध होता है ? क्या शुभभाव की, शरीर की क्रिया की जरा भी आवश्यकता नहीं है ? जाननेमात्र से ही बन्ध का निरोध किस प्रकार होता है —जरा स्पष्ट कर समझाइये ?

उत्तर - शिष्य के उपरोक्त प्रश्न के उत्तर स्वरूप, गाथा 72 है :—

अशुचिपना विपरीतता ये आस्रवों का जानके।
अरु दु:खकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे॥ 72॥

मङ्गल समर्पण

अहो ! जगत में मूर्ख जीवों को क्या कठिन है ? वे जो अनर्थ करें, उसका आश्चर्य नहीं है परन्तु नहीं करें वही वास्तव में आश्चर्य है। शरीर को प्रतिदिन पोषते हैं, साथ ही साथ विषयों का भी सेवन करते हैं। उन मूर्ख जीवों को कुछ भी विवेक नहीं है कि विषपान करके, अमरत्व की इच्छा रखते हैं - सुख की वांछा करते हैं।

- ***श्री गुणभद्राचार्य***

आस्रवों की अशुचिता, विपरीतता तथा वे दु:ख के कारण हैं — ऐसा जानकर, जीव उनसे निवृत्ति करता है।

(1) **आत्मा और आस्रवों का प्रथम प्रकार से भेदज्ञान** — आचार्य भगवान कहते हैं कि आस्रवभाव अशुचि हैं, अपवित्र हैं, घिनावने हैं और निज भगवान आत्मा तो सदा ही अति, निर्मल, शुचि, पवित्र और उज्ज्वल है — इस प्रकार अन्तर को देखकर, जब यह आत्मा, (जो रागादि और आत्मा को एक मानता है) आत्मा (त्रिकाली आत्मा) और आस्रवों के भेद को जानता है, उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है और जो क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त नहीं होता, उसे आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुयी है।

शिष्य के भेदज्ञान का आचार्य द्वारा परीक्षण — शिष्य को आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक भेदज्ञान की प्राप्ति हुयी है या नहीं? इस परीक्षण हेतु आचार्य भगवान प्रश्न पूछते हैं कि :—

आस्रवभाव, अशुचि हैं, अपवित्र हैं, घिनावने हैं और निजभगवान आत्मा सदा ही अति निर्मल -शुचि, पवित्र और उज्ज्वल है — हमने जो यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान बताया है, यह ज्ञान है या अज्ञान?

यदि शिष्य कहता है कि यह अज्ञान है तो आचार्य कहते हैं कि हमने जो तुम्हें आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान बताया, उससे कोई फायदा ही नहीं हुआ; जैसे तुम पहले दोनों को एक मानते थे, वैसे ही अब स्थिति है। यदि शिष्य कहता है कि यह तो ज्ञान है तो आचार्य भगवान उसी समय दूसरा प्रश्न पूछते हैं कि तुम आस्रवों में प्रवृत्त हो या आस्रवों से निवृत्त हो? शिष्य कहता है कि मैं तो आस्रवों में प्रवृत्तता हूँ; तो आचार्य भगवान कहते हैं कि इस आत्मा और आस्रवों के भेदज्ञान का कोई फायदा ही नहीं हुआ, क्योंकि आस्रवों से निवृत्तिरूप प्रयोजन की सिद्धि तो हुयी ही नहीं। यदि शिष्य कहता है कि मैं तो आस्रवों से निवृत्त हूँ, तो आचार्य भगवान अति प्रसन्नतापूर्वक कहते हैं कि फिर ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा? अर्थात्, अवश्य ही कहलायेगा।

इससे लाभ — आत्मा और आस्रवों के अन्तर को जानकर, रागरहित आत्मा का अनुभव ही धर्म है, ऐसा सिद्ध होने से —

1- मात्र जानने-जानने से क्या होता है, कुछ शुभभाव करेंगे, पूजा-पाठ,

सर्व प्रथम सत्समागमपूर्वक आत्मा की सच्ची समझ करना, शुद्धोपयोग का कारण है। जीव ने अनन्त काल में अन्य सब तो किया है, परन्तु कभी भी आत्मा की सच्ची समझ नहीं की है। आत्मा की सच्ची समझ अपूर्व हे। यदि जीव एक समय भी आत्मा को पहिचाने तो मुक्तिपथ का पथिक हुए बिना नहीं रहे।

मङ्गल समर्पण

व्रत-उपवासरूप शरीर की क्रिया करेंगे तो धर्म होगा - ऐसे क्रियानय के पक्षपाती व्यवहाराभासियों का खण्डन हो जाता है।

2- आत्मा अलग है - शरीर अलग है; आत्मा अलग है - आस्रव अलग है- इस प्रकार आत्मा और शरीर की भिन्नता की मात्र बातें करनेवाले और शरीर व आस्रव से भिन्न आत्मा का अनुभव न करनेवाले, निश्चयाभासियों का भी खण्डन हो गया।

ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध इस प्रकार सिद्ध हो गया।

(2) **आत्मा और आस्रवों का दूसरे प्रकार से भेदज्ञान —** आचार्य भगवान कहते हैं कि आस्रवभाव, जड़स्वभावी हैं और चैतन्य से अन्य स्वभाववाले हैं और निजभगवान आत्मा, विज्ञानघन स्वभावी है, चेतक है, स्व-पर का ज्ञाता है और चैतन्य से अनन्य स्वभाववाला है — इस प्रकार अन्तर को देखकर, जब यह आत्मा (जो आत्मा और रागादि को एक ही मानता है), आत्मा (त्रिकाली आत्मा) और आस्रवों के अन्तर और भेद को जानता है, उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है और जो क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त नहीं होता, उसे आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुयी है।

शिष्य के भेदज्ञान का आचार्य द्वारा परीक्षण —

शिष्य को आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक भेदज्ञान की प्राप्ति हुयी है या नहीं? इस परीक्षण हेतु आचार्य भगवान प्रश्न पूछते हैं कि -

आस्रवभाव, जड़स्वभावी हैं, चैतन्य से अन्यस्वभाववाले हैं और निज भगवान आत्मा, विज्ञानधनस्वभावी है, चेतक है, स्व-पर का ज्ञाता है और चैतन्य से अनन्यस्वभाववाला है — हमने जो यह आस्रव और आत्मा का भेदज्ञान बताया है, वह ज्ञान है या अज्ञान है?

यदि शिष्य कहता है कि यह अज्ञान है तो आचार्य भगवान कहते हैं कि हमने जो यह भेदज्ञान बताया, उससे कोई भी फायदा हीं नहीं हुआ। जैसे तुम आस्रव और आत्मा को एक मानते थे, उसी प्रकार अब मानते हो। यदि शिष्य कहता है कि यह ज्ञान है? तो आचार्य भगवान, उसी समय दूसरा प्रश्न पूछते हैं कि तुम आस्रवों में प्रवृत्त हो या आस्रवों से निवृत्त हो? यदि शिष्य कहता है कि मैं तो आस्रवों में प्रवृत्त हूँ - तो आचार्य भगवान पुन: कहते हैं कि हमने तो तुम्हें यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान बताने में अपना समय ही खराब किया, क्योंकि

सदैव याद रखना है —
1. मैं जीवतत्त्व हूँ, अजीवतत्त्व नहीं हूँ।
2. सामान्य में से विशेष आता है।
3. जितना कुछ दिखता है, सर्वथा पुद्गल का कार्य है; मुझ आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

तुम्हारी अन्तरङ्ग स्थिति तो पूर्ववत् ही है। यदि शिष्य कहता है कि मैं तो आस्रवों से निवृत्त हूँ – तो आचार्य भगवान अति प्रसन्नतापूर्वक कहते हैं कि फिर ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा, अर्थात् अवश्य ही कहलायेगा।

इससे लाभ – आत्मा और आस्रवों के अन्तर को अन्तर जानकर, रागरहित आत्मा का अनुभव ही धर्म है, ऐसा सिद्ध होने से —

(1) मात्र जानने-जानने से क्या होता है, कुछ शुभभाव करेंगे, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, आदि रूप शरीर की क्रिया करेंगे तो धर्म होगा — ऐसे क्रियानय के पक्षपाती व्यवहाराभासियों का खण्डन हो जाता है।

(2) आत्मा अलग है – शरीर अलग है; आत्मा अलग है — आस्रव अलग है — इस प्रकार आत्मा और शरीर की भिन्नता की मात्र बातें करनेवाले व शरीर तथा राग से भिन्न निजात्मा का अनुभव न करनेवाले, निश्चयाभासियों का भी खण्डन हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।

(3) **आत्मा और आस्रवों का तीसरे प्रकार से भेदज्ञान** — आचार्थ भगवान आत्मा और आस्रवों के अन्तर को और स्पष्ट करने हेतु, गाथा 72 में ही तीसरे प्रकार से समझाते हैं :-

आस्रवभाव, आकुलता को उत्पन्न करनेवाले होने से दु:ख के कारण हैं और निज भगवान आत्मा तो सदा ही निराकुलस्वभाव के कारण, किसी का कार्य व किसी का कारण न होने से, सुखस्वरूप है — इस प्रकार अन्तर को देखकर, जब यह आत्मा, (जो आत्मा और रागादि को एक मानता है) आत्मा (त्रिकाली आत्मा) और आस्रवों के अन्तर को जानता है, उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है और जो क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त ही नहीं है, उसे आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक भेदज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुयी है।

शिष्य के भेदज्ञान का आचार्य द्वारा परीक्षण — शिष्य को आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक भेदज्ञान की सिद्धि हुयी है या नहीं — इस परीक्षण हेतु आचार्य भगवान प्रश्न पूछते हैं कि –

आस्रवभाव, आकुलता को उत्पन्न करनेवाले होने से दु:ख के कारण हैं और निज भगवान आत्मा तो सदा ही निराकुलस्वभाव के कारण, किसी का कार्य

आत्मा की शुद्धदशा ही धर्म है। उस धर्म को करनेवाला आत्मा स्वयं ही है। धर्म करनेवाले आत्मा से ही धर्म होता है किन्तु पैसे से, शरीर से, प्रतिमा से, अथवा देव-शास्त्र-गुरु से धर्म नहीं होता तथा उस तरफ के शुभराग से भी धर्म नहीं होता। धर्म, आत्मा की निर्मल वीतरागी शुद्धपर्याय है। वह पर्याय, पर्यायी आत्मा में से प्रगट होती है। आत्मा त्रिकाल ज्ञानादि निर्मल गुणों की खान है। श्रवण-मनन द्वारा उसकी पहिचान करने पर, आत्मा में से जो निर्मल अंश प्रगट होता है, वह अंशी का अंश, धर्म है।

जिस प्रकार कोई बालक अपनी माता से बिछुड़ गया हो, उससे पूछें कि 'तेरा नाम क्या?' तो कहता है 'मेरी माँ'; 'तेरा गाँव कौन?' तो कहता है 'मेरी माँ'; 'तेरे माता-पिता कौन हैं?' तो कहता है 'मेरी माँ'; उसी प्रकार जिसे आत्मा की सच्ची रुचि से ज्ञायकस्वभाव प्राप्त करना है, उसे हर एक प्रसङ्ग में 'ज्ञायकस्वभाव... ज्ञायकस्वभाव' — ऐसी लगन बनी ही रहती है, उसी की निरन्तर रुचि एवं भावना रहती है।

– ***बहिनश्री चम्पाबेन***

व किसी का कारण न होने से, सुखस्वरूप है — हमने जो यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान बताया है, वह ज्ञान है या अज्ञान है ? यदि शिष्य कहता है कि अज्ञान है तो आचार्य भगवान कहते हैं कि हमने जो यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान बताया है, उससे कोई भी फायदा नहीं हुआ, क्योंकि तुम जैसे पहले दोनों को एक मानते थे, वैसा ही अब मानते हो उसमें कोई विशेषता नहीं हुयी। यदि शिष्य कहता है कि ज्ञान है — तो आचार्य भगवान उसी समय दूसरा प्रश्न पूछते हैं कि तुम आस्रवों में प्रवृत्त हो या आस्रवों से निवृत्त हो ? यदि शिष्य कहता है कि मैं तो आस्रवों में प्रवृत्त हूँ — तो आचार्य भगवान कहते हैं कि हमने तो तुम्हें समझाने में व्यर्थ ही समय खराब किया, तुम्हारी तो स्थिति पूर्ववत् ही है और यदि शिष्य कहता है कि मैं तो आस्रवों से निवृत्त हूँ —तो आचार्य भगवान अति प्रसन्नतापूर्वक कहते हैं कि फिर आत्मा और आस्रवों के भेदज्ञान से बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा, अर्थात् अवश्य ही कहलायेगा।

इससे लाभ —

आत्मा और आस्रवों के अन्तर को जानकर, रागरहित आत्मा का अनुभव ही धर्म है — ऐसा सिद्ध होने से -

(1) मात्र जानने-जानने से क्या होता है, कुछ शुभभाव करेंगे, पूजा-पाठ, व्रत-उपवासरूप शरीर की क्रिया करेंगे तो धर्म होगा - ऐसे क्रियानय के पक्षपाती व्यवहाराभासियों का खण्डन हो गया।

(2) आत्मा अलग है - शरीर अलग है; आत्मा अलग है — आस्रव अलग है; इस प्रकार आत्मा व शरीर की भिन्नता की मात्र बातें करनेवाले व शरीर तथा राग से भिन्न निजात्मा का अनुभव न करनेवाले, निश्चयभासियों का भी खण्डन हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होने से, विकार से धर्म का कुछ सम्बन्ध है — ऐसी मान्यता का अवकाश ही नहीं रहता और '**ज्ञान, अविकारी है**' ऐसा सिद्ध हो जाता है।

गाथा 72 से क्या सिद्ध हुआ

ज्ञान, अविकारी है, अर्थात् आत्मा का आस्रवभावों से कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्यग्दर्शन के लिए, श्रावकपने के लिए, मुनिपने के लिए, श्रेणी के लिए,

अरहन्त व सिद्धदशा की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार के शुभभाव की किञ्चितमात्र आवश्यकता नहीं है; एकमात्र विकार से सर्वथा भिन्न निज भगवान आत्मा के आश्रय की आवश्यकता है। छहढ़ाला में भी कहा है :—

परद्रव्यनतैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है,

आप रूप को जानपने से सम्यग्ज्ञान कला है;

आपरूप में लीन रहे थिर सम्यक्चारित्र सो ही....

दिनाँक 17 -9- 1996

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

धर्म क्या....... ?

प्रश्न – रत्नकरण्ड किसे कहते हैं ?

उत्तर – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का करण्ड, अर्थात् पिटारा। जिसमें सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान -सम्यग्ज्ञानचारित्ररूप परिणत श्रावकों का वर्णन है, वह रत्नकरण्डश्रावकाचार है।

प्रश्न – केवली भगवान को नमस्कार क्या है ?

उत्तर – जो केवलज्ञान में त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को एक साथ जानते-देखते हैं, उन केवलज्ञानी भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

इससे लाभ क्या रहा ?

1- जिसने निमित्तरूप केवलज्ञानी के केवलज्ञान को माना, वह समस्त दुःख का अभाव करके सम्पूर्ण सुख को प्राप्त करता है।

क्योंकि —

2- भगवान के ज्ञान में क्या आया ? वस्तुस्वरूप। वस्तुस्वरूप का विचार करते ही (निर्णय करते ही) सम्पूर्ण दुःख का अभाव। वस्तुस्वरूप क्या है ?

A- 'अनादि निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है; कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती' — ऐसा निर्णय करते ही सम्पूर्ण दुःख का अभाव हो जाता है।

B- प्रत्येक द्रव्य, अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुण, अनन्त

निश्चय और व्यवहार के परस्पर विरोध है। वह विरोध कैसे मिटे? निश्चय जो कहता है, वह वस्तुस्वरूप है और व्यवहारकथन के अनुसार वस्तुस्वरूप नहीं है, किन्तु वह उपचारकथन है – ऐसा समझने से दोनों नयों के विरोध का परिहार होता है परन्तु नयों के कथन की अपेक्षा समझे बिना, दोनों को सत्य मान लें कि यह भी सत्य है और यह भी सत्य है, तो उसके दोनों नयों का विरोध कभी नहीं मिटता, अर्थात् उसके मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता।

मङ्गल समर्पण

विशेषगुण, एक व्यंजन -पर्याय और अनन्त अर्थपर्यायोंसहित विराज रहा है — ऐसा प्रत्येक द्रव्य की सत्ता का निर्णय ही सम्पूर्ण दु:ख के अभाव का उपाय है।

प्रश्न – धर्म क्या है ?

उत्तर – जो चारों गतियों के परिभ्रमणरूप दु:खों से आत्मा को छुड़ाकर, उत्तम आत्मीक, अविनाशी अतीन्द्रिय मोक्षसुख में धर दे, वह धर्म है।

दु:ख कैसे छूटेगा ?

मैं जीवतत्त्व हूँ; अजीवतत्त्व नहीं हूँ — ऐसा निर्णय करे तो दु:ख से छूटेगा।

प्रश्न – अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्ष सुखरूप धर्म कहाँ से नहीं आता है ?

उत्तर – यह धर्म, पैसा देकर खरीदा नहीं जाता, जो धन खर्च करके दान-सन्मानादि द्वारा ग्रहण कर लें।

तो धर्म कैसे मिलता है ?

धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। परद्रव्यों में आत्मबुद्धि छोड़कर, अपने ज्ञाता-दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान, ज्ञान और ज्ञायकस्वभाव में ही प्रवर्तनरूप जो आचरण है, वह धर्म है।

प्रश्न – अज्ञानी, धर्म की प्राप्ति कहाँ से मानता है ?

उत्तर – 1- सेवा-उपासना से धर्म मानता है। किन्तु धर्म, सेवा उपासना से नहीं मिलता; धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, निजात्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही धर्म है।

2- अज्ञानी, मन्दिर में बैठने को धर्म मानता है, सो मन्दिर, पर्वत, जल, अग्नि, देवमूर्ति व तीर्थक्षेत्रादि में धर्म नहीं रखा है, जो वहाँ से ले आयें। तो धर्म कहाँ हैं ? धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। परद्रव्यों में आत्मबुद्धि छोड़कर, अपने ज्ञाता- दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही धर्म है।

3- उपवास, व्रत, कायक्लेशादि तप से भी धर्म नहीं मिलता। तो धर्म कैसे मिलता है — धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। कैलाशचन्द्र शरीरादि पर द्रव्यों में आत्मबुद्धि छोड़कर, अपने ज्ञाता-दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही धर्म है।

4- देवाधिदेव के मन्दिर में उपकरणदान, मण्डल-पूजन आदि करके, धर्म मिल जाये, ऐसा भी नहीं है क्योंकि धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। कैलाशचन्द्र

मङ्गल समर्पण

प्रतिकूलता आने पर व्याकुल मत होना, परन्तु आराधना में उत्साह प्रगट करके, वैराग्यभावना में दृढ़ रहना; क्रोध की उत्पत्ति मत होने देना, अपूर्व शान्तरस में मग्न रहना... और दीक्षा आदि परमवैराग्य के प्रसङ्गों का स्मरण करके अपनी आत्मा को परम उल्लासपूर्वक रत्नत्रय की आराधना में लगाना। सारभूत चैतन्यभावों को जानकर असाररूप परभावों को छोड़ना।

– **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी**

शरीरादि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि छोड़कर, अपने ज्ञाता-दृष्टास्वभाव का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही धर्म है।

5- घर छोड़कर वन में रहने से या परमेश्वर के नाम-जाप से भी धर्म नहीं मिलता, क्योंकि धर्म तो आत्मा का स्वभाव है ? कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि छोड़कर, निजात्मा का श्रद्धान -ज्ञान-आचरण ही धर्म है ?

प्रश्न – ऐसे अविनाशी धर्म की प्राप्ति होने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर – निजात्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप धर्म की प्राप्ति होते ही — इस लोक का भय, परलोक का भय, मरण का भय, वेदनाभय, अनरक्षा का भय, अगुप्तिभय, अकस्मात्‌भय – इन सात प्रकार के भयों का अभाव हो जाता है। सम्यग्दृष्टि निःशङ्क हो जाता है, क्योंकि ज्ञानी जीव को अपने स्वभाव का पता चल गया है। किस स्वभाव का ? निजात्मा, शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, ज्ञान -दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध वस्तु है, शुद्ध है, ज्ञाता है, दृष्टा है, अचल है, अनादि है, अनन्त है, अलख अरूपी है, चैतन्यप्रकाशरूप है, सुख का स्थान है, इसमें अचानक कुछ भी होता नहीं है। ऐसे दृढ़भावसहित सम्यग्दृष्टि निःशङ्क है।

प्रश्न – मुझ आत्मा, धर्मरूप कब होगा ?

उत्तर – उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप अपने आत्मा का परिणमन तथा रत्नत्रयरूप और जीवों की दयारूप अपने आत्मा की परिणति होगी, तब अपना आत्मा, आप ही धर्मरूप हो जायेगा। बस, धर्म तो मात्र वीतरागभाव ही है; शुभराग है, वह पुण्यबन्ध का कारण है, अज्ञानी को परम्परा निगोद का कारण है; धर्म का कारण नहीं है। निजात्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरणस्वरूप धर्म है, वहाँ बन्ध का अभाव है। बन्ध का अभाव होते ही उत्तम सुख होता है।

प्रश्न – संसार और मोक्ष क्या है ?

उत्तर – मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र, संसार की परिपाटी है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष की परिपाटी है। स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही जीव को संसार के दुःखों से छुटाकर, अविनाशी मोक्षसुख में धरनेवाला है।

सम्यग्दर्शन तो आपा-पर का सत्य श्रद्धान करने से ही होगा और वह सत्य श्रद्धान-ज्ञान तो विनयसहित स्याद्वादरूप परमागम के सेवन से ही होगा।

(श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार की गाथा 1, 2, 3, 11 व 137 का रहस्य)

मैं ज्ञायक आत्मा, शरीर-मन-वाणी का कर्ता नहीं हूँ, उनका करानेवाला नहीं हूँ, और उनके कर्ता का अनुमोदक भी मैं नहीं हूँ; मैं तो उनका ज्ञाता ही हूँ और वे सब ज्ञेय हैं; इस प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक का भेदविज्ञान करके ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना अपूर्व सम्यग्दर्शन और मुक्ति का कारण है।

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

जीव के पाँच भाव......

प्रश्न – पाँच भाव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औदयिकभाव और पारिणामिकभाव।

प्रश्न – स्वयं पारिणामिकभावस्वरूप है, फिर भी उसका अनुभव क्यों नहीं होता ?

उत्तर – जिनके साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, उनसे अपना सम्बन्ध मानने के कारण, आज तक निज परमपारिणामिकभाव की पहचान नहीं हुई। मैं ज्ञायक भगवान हूँ- अभी। मैं अकृत्रिम जिन चैत्यालय हूँ — अभी। ऐसी पहचान न होने के कारण, अपना परमपारिणामिकभाव अनुभव में नहीं आता। सुख, आत्मा के सुखगुण में से आता है, इस बात का पता न होने से —

मैं सुखी-दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥

अर्थात्, शरीरादि परद्रव्यों की अनुकूलता से मैं सुखी और प्रतिकूलता से मैं दु:खी — ऐसा मानने के कारण, परमपारिणामिकभाव अनुभव में नहीं आता।

(2) मेरा ज्ञान स्वभाव है। जिसका कार्य, मात्र जानना जानना ही है — इस बात का पता न होने से मैं उठता हूँ, मैं घर के व समाज के कामकाज करता हूँ — ऐसा मानने के कारण निज परमपारिणामिकभाव का अनुभव नहीं होता।

(3) विश्व का कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है — इस बात का पता न होने से, विश्व के किसी पदार्थ को इष्ट और किसी को अनिष्ट मानता है; अत: निज परमपारिणामिकभाव का अनुभव नहीं होता।

जिस क्षण, चारों गति में कहीं पड़ा हो, एक समय के लिये स्वयं को शरीर से भिन्न पहचान ले, अर्थात् निजात्मा, शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध अभेद वस्तु है — ऐसा मानते ही, निज परमपारिणामिकभाव का अनुभव हो जाता है और यदि निज पारिणामिकभाव का अनुभव-ज्ञान नहीं है तो सारा शास्त्र पढ़ना, लिखना, सब बेकार है, क्योंकि निज स्वरूप की पहचान से ही धर्म की शुरुआत होती है।

मङ्गल समर्पण

यदि इस अवसर में तत्त्वाभ्यास करके आत्मानुभव नहीं किया तो जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ अमूल्य रत्न पुन: हाथ नहीं आता; उसी प्रकार मनुष्य शरीर, उत्तम जैन श्रावककुल और जिनवचनों का श्रवण आदि सुयोग बीत जाने के बाद, पुन: पुन: प्राप्त नहीं होंगे; इसलिए इस अपूर्व अवसर को व्यर्थ न गँवाकर, आत्मस्वरूप की पहिचान; अर्थात्, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करके, यह मनुष्य-जन्म सफल करना चाहिए।

– पण्डित दौलतराम

मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं उठता-बैठता हूँ, ज्ञेय से ज्ञान होता है, पाँच इन्द्रियों के विषयों से सुख होता है — ऐसी मान्यता जब तक रहेगी, निज परमपारिणामिकभाव की पहचान नहीं होगी। एक समय के लिए स्वयं को शरीर से भिन्न जानते ही निज परमपारिणामिकभाव की पहचान हो जाती है।

पारिणामिकभाव — जीव में अनादि-अनन्त शुद्ध एक चैतन्यभाव है, जिसके आश्रय से धर्म की शुरुआत, वृद्धि और पूर्णता होती है। अर्थात्, मैं भगवान हूँ — ऐसा पारिणामिकभाव बताता है। नास्ति से मैं शरीर नहीं हूँ — ऐसा पारिणामिकभाव बताता है।

औदयिकभाव — जीव में अनादि-अनन्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव होने पर भी, उसकी अवस्था में विकार है - ऐसा औदयिकभाव सिद्ध करता है। अर्थात्, आत्मा भगवान होने पर भी, पर्याय में विकार है, एक समय का है, उसमें कर्म निमित्त है; आत्मा नहीं; परन्तु कर्म, जीव को विकार नहीं कराता — ऐसा औदयिकभाव बताता है।

औदायिकभाव उत्पन्न क्यों होता है ? — मैं भगवान हूँ, ऐसा न मानने के कारण।

क्षायोपशमिकभाव - (1) जीव, अनादि काल से विकार करता हुआ भी, जड़ नहीं हो जाता, सर्वथा विकाररूप नहीं हो जाता, क्योंकि उसके ज्ञान-दर्शन-वीर्य का आंशिक विकास सदा बना रहता है - ऐसा क्षायोपशमिकभाव बताता है।

(2) मैं ज्ञायक भगवान हूँ, मेरी पर्याय में विकार है, वह विकार एक समय का है, विकार में कर्म निमित्त है; आत्मा निमित्त नहीं है — ऐसा निर्णय करके अपने पारिणामिकस्वभाव को पहचान सकता है — ऐसी ताकत प्रत्येक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में है। यह पात्र जीव का क्षयोपशमभाव बताता है।

औपशमिकभाव - आत्मा का स्वरूप यथार्थतया समझकर, जब जीव अपने पारिणामिकभाव का आश्रय लेता है, तब औदयिकभाव दूर होता है- यह औपशमिकभाव बताता है। अर्थात्, जिस क्षण जीव स्वयं को भगवान स्वरूप स्वीकार करता है, उसी क्षण धर्म की प्राप्ति हो जाती है, वीतरागभाव प्रगट हो जाता है —ऐसा औपशमिकभाव बताता है।

भगवान की वाणी कहती है कि हे जीवों! तुम अपने परिपूर्ण आत्मस्वभाव को पहिचान कर, उसमें स्थिर होओ। आत्मा के आनन्द में झूलो... अभेदस्वभाव में स्थिर होओ.... स्वभाव में स्थिर होओ! तुम अपने आत्मा में पूर्ण स्वतन्त्र हो, आत्मा को कर्म आदि कोई भी पदार्थ बाधक नहीं है। आत्मा को समझकर स्थिरता का सब अवसर आ गया है।

क्षायिकभाव – अब, जैसे–जैसे निज परमपारिणामिकभाव में जमता जाता है, क्रम से पूर्णता की प्राप्ति हो जाती है।

यह पाँच भावों का रहस्य संक्षेप में बताया है। विशेष जानकरी के लिये – तत्वार्थसूत्र अध्याय 2 के सूत्र एवं जैन सिद्धान्त प्रवेशरत्नमाला चौथे भाग से पढ़ना चाहिए।

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

दिनाँक 19 –9– 1996

संसार के कारणरूप भाव

प्रश्न – दु:ख के अभाव और सुख की प्राप्ति का क्या उपाय है ?

उत्तर – जीव को स्वयं के दोष का ज्ञान नहीं है। यदि एक बार अपनी गलती ख्याल में आ जाये तो गलती मिट जाएगी और दोषरहित स्वभाव का आश्रय हो जाएगा।

गलती क्या है ? परद्रव्यों में 'ये, मैं' ऐसी मान्यता, संसार है, गलती है। गलती का अभाव कैसे हो ? परद्रव्यों से भिन्न 'यह, मैं' अर्थात्, मैं ज्ञायक भगवान हूँ — ऐसी मान्यता ही मोक्ष है, अर्थात् गलती दूर करके स्वभाव के आश्रय का एकमात्र उपाय है। जिस क्षण स्वयं को चैतन्यस्वरूप आत्मा ही स्वीकार किया, उसी क्षण सम्पूर्ण दु:ख का अभाव होकर, सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति हो जाती है।

श्री मोक्षशास्त्र, पृष्ठ 184 पर कहा है कि जीव, मोह के उदय में युक्त होता है तो बन्ध होता है। द्रव्यमोह का उदय होने पर भी, यदि जीव शुद्धात्मभावना के बल से भावमोहरूप परिणमित न हो तो बन्ध नहीं होता। यदि कर्म का उदय, बन्ध का कारण हो तो संसारी के तो सर्वदा कर्मोदय विद्यमान है; अत: सर्वदा बन्ध होगा ही होगा, कभी मोक्ष नहीं हो सकता; अत: यह निश्चित जानना कि कर्म का उदय, बन्ध का कारण नहीं है। वस्तुस्वरूप विचारने पर भी यह बात मिथ्या ही है, क्योंकि कर्म का उदय का कर्ता, कार्माणवर्गणा है, भिन्न द्रव्य है। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का करे कैसे ? जब कि प्रत्येक द्रव्य अपनी–अपनी सत्ता में रहता हुआ, अपना–अपना ही कार्य करता है।

मिथ्यादृष्टि जीव, आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के बिना करोड़ों जन्मों –भवों तक बालतपरूप उद्यम करके, जितने कर्मों का नाश करता है, उतने कर्मों का नाश सम्यग्ज्ञानी जीव, स्वोन्मुख ज्ञातापनेरूप स्वरूपगुप्ति से क्षणमात्र में सहज ही कर डालता है।

– **आचार्य कुन्दकुन्द**

और फिर यह बात भी विचारने की है कि मेरी पर्याय में संयोगीभाव, आस्रवभाव / विकारीभाव उत्पन्न होते क्यों हैं ? संयोग को अपना मानने के कारण ही अपनी पर्याय में विकार उत्पन्न होता है। संयोग को अपना-मानना ही संसार का कारण है; संयोग संसार का कारण नहीं है। जो परद्रव्यों को, संयोगों को संसार का कारण मानता है, वह कभी भी संयोगीभावों का अभाव नहीं कर सकता।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग — ये पाँच बन्ध के कारण हैं। सर्व प्रथम चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव होता है। मिथ्यात्व का अभाव हुए बिना, किसी भी जीव को, कोई भी व्रत, तप आदि बालव्रत और बालतप ही हैं। मिथ्यादर्शन क्या है ? जीव के जैसा श्रद्धान है, वैसा पदार्थ का स्वरूप न हो और जैसा पदार्थ का स्वरूप नहीं हो, वैसा यह माने, उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं। स्वयं को भूल, पर को अपना माना- बस, इसी का नाम मिथ्यादर्शन बनाम संसार है। स्वयं कौन है ? अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन, वस्तु स्व है। पर क्या है ? मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण सहित, नवीन जिनका संयोग हुआ है — ऐसे कैलाशचन्द्र जैन शरीरादि पुद्गल पर हैं। इन स्व-पर के संयोगरूप मनुष्य-तिर्यंचादि पर्यायें होती हैं, उनको एक मानता है — यह मिथ्यादर्शन है।

अपना स्वभाव, ज्ञानादिक हैं और विभाव, क्रोधादिक हैं और पुद्गल परमाणुओं की स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णरूप अवस्थाएँ होती हैं - उन सबको अपना स्वरूप जानता है - यह मिथ्यादर्शन है।

इस विश्व की प्रत्येक वस्तु स्वयंमेव ही परिणमन करती है किन्तु यह जीव ऐसा नहीं मानता, अपितु इससे विपरीत मानता है कि मैं परद्रव्यों को परिणमा सकता हूँ — ऐसी विपरीत मान्यता ही मिथ्यादर्शन है।

ज्ञान, आत्मा के ज्ञानगुण में से आता है और सुख, आत्मा के सुखगुण में से आता है — इस बात को भूलकर, इन्द्रियों से ज्ञान होता है, कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान होता है, पाँच इन्द्रियों के विषयों से सुख होता है — ऐसी मान्यता, मिथ्यादर्शन है।

अपना कार्य ज्ञाता-दृष्टा है, इस बात का तो पता नहीं; उठने-बैठने आदि शरीर की क्रियाओं का स्वयं को कर्ता मानता है — ऐसी मान्यता ही मिथ्यादर्शन है।

हे भाई! 'तेरे आत्मा में ही सुख है' - यह बात सुनकर तुझे रुचती है ? यदि आत्मस्वरूप रुचता है तो तेरी मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी। प्रभु! अनन्त काल में तूने सब कुछ किया है, परन्तु एकमात्र आत्मस्वरूप की समझ कभी भी नहीं की है, इसी कारण तूने अभी तक संसार में परिभ्रमण किया है। जिस आत्मस्वरूप को समझे बिना, अनन्त-अनन्त काल से तू दुःखी हो रहा है, उस आत्मस्वरूप को समझना ही धर्म का अपूर्व प्रारम्भ है।

मिथ्यात्व का अभाव हो कैसे ?

मैं ज्ञायक भगवान हूँ; कैलाशचन्द्र नहीं हूँ। मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है; उठना-बैठना आदि शरीर के कार्य, मेरे नहीं हैं।

ज्ञान, मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से आता है और सुख, मुझ आत्मा के सुखगुण में से आता है — ऐसा निर्णय होते ही मिथ्यात्व का अभाव और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

मिथ्यात्व का अभाव होने पर, क्रम से अविरति, प्रमाद, कषाय और योग —संसार के इन कारणों का भी अभाव हो जाता है।

क्योंकि एकत्वबुद्धि ही संसार है।

1. द्रव्यसम्बन्धी एकत्वबुद्धि — मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसी मान्यता।

2. गुणसम्बन्धी एकत्वबुद्धि — ज्ञेयों से, परद्रव्यों से ज्ञान व सुख का होना मानना।

3. पर्यायसम्बन्धी एकत्वबुद्धि — मैं उठता हूँ, मैं बैठता हूँ आदि।

तीनों प्रकार की एकत्वबुद्धि के अभाव के लिए क्या करना है? मात्र भिन्नत्व का अभ्यास करना ही तीनों प्रकार की एकत्वबुद्धि के अभाव का एकमात्र उपाय है।

भिन्नत्व के अभ्यास के लिए क्या करना? तीनों प्रकार के बन्ध का ज्ञान करना -

1. जीवबन्ध — मुझ आत्मा, अबन्धस्वभावी और क्रोधादि भाव, बन्धस्वभावी।

2. पुद्‌गलबन्ध — एक स्कन्ध में प्रत्येक परमाणु पृथक-पृथक है तो मुझसे क्या सम्बन्ध ?

3. उभयबन्ध — आत्मा अलग है और शरीर अलग है।

(ऐसा निर्णय ही सम्यग्दर्शन का, अर्थात् संसार के अभाव का उपाय है।)

जिस प्रकार वन में लगी हुई अग्नि, अर्थात् दावानल, वहाँ की समस्त वस्तुओं को भस्म कर देता है; उसी प्रकार पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों की इच्छा, संसारी जीवों को जलाती है - दु:ख देती है और जिस प्रकार वर्षा की झड़ी, उस दावानल को बुझा देती है; उसी प्रकार यह सम्यग्ज्ञान, विषयों की अग्नि को शान्त कर देता है / नष्ट कर देता है।

- पण्डित दौलतराम

दिनाँक 20 -9- 1996

पाँच समवाय : समझ और प्रयोग

इस भवतरू का मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।
ताकौं करि निर्मूल अब, करिये मोक्ष उपाव॥

मोक्ष के प्रयत्न में पाँच बातें एक साथ होती हैं :—

(1) ज्ञायकस्वभाव, (2) पुरुषार्थ, (3) काललब्धि, (4) भवितव्य, और (5) कर्म के उपशमादि।

निजात्मा में परिपूर्ण शुद्धता का प्रगट होना मोक्ष है, जो कि आत्मा की परिपूर्ण शुद्धदशा है। मोक्ष, जिनवाणी में पाँच प्रकार का कहा गया है - (1) शक्तिरूप मोक्ष, (2) दृष्टिरूप मोक्ष, (3) मोहमुक्त मोक्ष, (4) जीवनमुक्त मोक्ष, और (5) विदेहमोक्ष।

यहाँ पर दृष्टिमोक्ष, अर्थात् सम्यग्दर्शन (चौथा गुणस्थान) की बात है।

जिस समय दृष्टिमोक्ष की प्राप्ति होती है, उस समय पाँच समवाय एक साथ होते हैं।

(1) ज्ञायकस्वभाव - निज ज्ञायक भगवान आत्मा मैं स्वयं हूँ। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख आदि अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड आत्मा, मैं स्वयं हूँ, त्रिकाल हूँ — इसका, अर्थात् स्वयं का इन्तजाम नहीं करना है।

(2) काललब्धि - प्रत्येक द्रव्य में हर समय कार्य हो रहा है, क्यों? क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है।

(3) भवितव्य - जो होना था, सो हुआ, इसका नाम भवितव्य है।

(4) कर्म के उपशमादि - कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और सुबह से शाम तक जितना रूपी कार्य दिखता है, सर्वथा पुद्गल का कार्य है; आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

(5) पुरुषार्थ - उपरोक्त चार बातों का निर्णय होते ही वर्तमान ज्ञान की पर्याय, स्वद्रव्य, अर्थात् ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख हो जाती है; उसी समय दृष्टिमोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, इसका नाम पुरुषार्थ है।

ज्ञायकस्वभाव आदि पाँच समवाय, कारण हैं; कार्य नहीं है।

जिसे इस चौरासी के अवतार का भय लगा हो, वह आत्मा की शरण खोजता है। वह अन्तर में ऐसा विचारता है कि अरे रे! क्या भव ही करने का मेरा स्वभाव होगा अथवा कहीं भवरहित शान्ति होगी? मेरा स्वरूप इस अज्ञानरूप से पुण्य-पाप करके भवभ्रमण में दु:ख भोगना नहीं है। इस प्रकार जिसको अन्तर में भवभ्रमण का त्रास लगा हो, वह जीव अन्तर में चैतन्य की शरण खोजता है।

(1) अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन वस्तु, **निज स्वभाव** है। (2) अपने में अनन्त गुण हैं, उनमें से ज्ञानगुण की पर्याय, जो परसन्मुख थी, उसका स्वसन्मुख हो जाना ही **पुरुषार्थ** है। उसी समय समस्त गुणों में आंशिक शुद्धता प्रगट हो जाती है। **काललब्धि** और **भवितव्य** नाम की कोई वस्तु नहीं है। हर द्रव्य में हर समय कार्य होता है, इसका नाम **काललब्धि** है और जो होना था, वही हुआ - इसका नाम **भवितव्य** है। सुबह से शाम तक के रूपीकार्यों का कर्ता सर्वथा आहारवर्गणा है, पुद्‌गल है, कर्म के उपशमादि, पुद्‌गल कार्माणवर्गणा का कार्य है; आत्मा से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — इतना-मानते ही स्वभावसन्मुख उपयोग का होना ही **पुरुषार्थ** है।

ज्ञायकस्वभावी आत्मा पर दृष्टि क्यों नहीं आती? शरीर आदि परद्रव्य पहले जन्म से साथ आया नहीं और यहाँ से जायेगा तो कुछ भी साथ जाएगा नहीं; फिर भी शरीरादि परद्रव्यों में ही एकत्वबुद्धि बनी रहने के कारण, निज ज्ञायक भगवान आत्मा दृष्टि में नहीं आता। जीव का कर्तव्य तो मात्र तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है, जिसके होने पर तत्काल ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि आ जाती है।

तत्त्वनिर्णय का अभ्यास क्या है? मैं ज्ञायक भगवान हूँ; कैलाशचन्द्र नहीं हूँ, हर द्रव्य में हर समय कार्य होता है, — जो होना था, सो हुआ और सुबह से शाम तक के सभी रूपीकार्यों का कर्ता पुद्‌गल ही है — ऐसा तत्त्वनिर्णय का अभ्यास करके, निज ज्ञान की पर्याय को अपने स्वभावसन्मुख करता है, अर्थात् पुरुषार्थ करता है, उसे सर्व कारण मिलते है और उसे अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष, अर्थात् दृष्टिमोक्ष की प्राप्ति होती है और फिर क्रम से मोहमुक्तमोक्ष, जीवनमुक्त मोक्ष और विदेहमोक्ष की प्राप्ति होती है।

जो जीव, जिनेन्द्रदेव की वाणी का योग बनने पर भी, अन्य चक्करों में लगा रहता है; वस्तुस्वरूप को स्वीकार नहीं करता - उसे कभी भी धर्म की, दृष्टिमोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

एकेन्द्रियादि तो धर्मकार्य करने में समर्थ ही नहीं हैं, कैसे पुरुषार्थ करें? अर्थात्, असंज्ञीपर्यन्त तो धर्मकार्य के पुरुषार्थ के अयोग्य ही हैं।

महान पुण्योदय से दिगम्बर धर्म, सच्चे देव, गुरु, शास्त्र का समागम होने पर भी, जो जीव, पुरुषार्थ नहीं करता, वह भी अयोग्य, अर्थात् अपात्र है।

पहली कोटि —

जैसे, कोई पुरुष, नदी के प्रवाह में पड़ा बह रहा है, वहाँ पानी का जोर हो,

मङ्गल समर्पण

आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है कि धन, मकान, दुकान, कीर्ति, निरोगी शरीरादि पुण्य के फल में हर्ष तथा उनके वियोग में शोक न करे, क्योंकि परपदार्थ सदा भिन्न हैं, ज्ञेयमात्र हैं; उनमें किसी को अनुकूल-प्रतिकूल अथवा इष्ट -अनिष्ट मानना, जीव की भूलमात्र है; इसलिए पुण्य-पाप के फल में हर्ष-शोक नहीं करना चाहिए।

- पण्डित दौलतराम

तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ भी नहीं, उपदेश भी कार्यकारी नहीं; उसी प्रकार जीव, संसार में भ्रमण करता है, वहाँ कर्मों का तीव्र उदय हो, तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं और उपदेश भी कार्यकारी नहीं। एकेन्द्रियादि तो धर्मकार्य करने में समर्थ ही नहीं, कैसे पुरुषार्थ करें ? और तीव्र कषायी पुरुषार्थ करें, तो वह पाप का ही करे; धर्मकार्य का पुरुषार्थ हो नहीं सकता।

दूसरी कोटि —

जैसे, कोई पुरुष, नदी के प्रवाह में पड़ा बह रहा है, वहाँ पानी का जोर थोड़ा हो, तब यदि पुरुषार्थ करके निकले तो निकल आयेगा; उसी प्रकार जीव, संसार में भ्रमण करता है, वहाँ कर्मों का मन्द उदय हो, तब पुरुषार्थ करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करे तो मोक्ष प्राप्त कर ले; इसलिए जो विचारशक्ति हों, रागादिक की मन्दता हो, वह जीव, पुरुषार्थ से उपदेशादि के निमित्त से तत्त्वनिर्णयादि में उपयोग लगाये तो उसका उपयोग वहाँ लगे और तब उसका भला हो।

तीसरी कोटि —

जैसे, कोई पुरुष, नदी के प्रवाह में बह रहा है, वहाँ पानी का जोर थोड़ा हो, तब यदि पुरुषार्थ करके न निकले तो धीरे-धीरे बहेगा और फिर पानी का जोर होने पर बहता चला जाएगा; उसी प्रकार जीव, संसार में भ्रमण करता है, तब यदि कर्म का मन्द उदय हो, तब पुरुषार्थ करके न निकले, अर्थात् मोक्षमार्ग में प्रवर्तन न करे तो किंचित् विशुद्धता पाकर फिर तीव्र उदय आने पर निगोदादि पर्याय को प्राप्त करेगा। इसी प्रकार यदि विचारशक्ति, रागादिक की मन्दता, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का योग बनने पर भी, प्रमाद से काल गँवाये, आत्मा-आत्मा की बातें बनाये और दूसरों को भी आत्मा की बातें करना सिखाये, नाटक, फाटक के चक्कर में लगा रहे और विषय-कषाय के कार्यों में ही प्रवर्ते या व्यवहार धर्मकार्यों में प्रवर्ते, तब अवसर तो चला जायेगा और संसार में ही भ्रमण करता हुआ, एकेन्द्रिय निगोद आदि में ही जाएगा।

अन्तिम सीख — अत: अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब सर्व प्रकार से अवसर आया है, ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है। इसलिए श्रीगुरु, दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश दे रहे हैं, उसमें भव्य जीवों को प्रवृत्ति करना।

हे भाई! क्या अब तुझे जन्म-मरण से थकान लगी है ? यदि थकान लगी हो तो उस जन्म-मरण से छूटने के लिए चैतन्य-शरण को पहिचानकर, उसके आश्रय से विश्राम कर। विश्राम किसे नहीं रुचता ? जिसे थकान नहीं लगी हो, वह विश्राम नहीं चाहता परन्तु जिसको अन्तरङ्ग में थकान लगी हो, वह विश्राम खोजता है।

मङ्गल समर्पण

दिनाँक 23 फरवरी 1991

शब्दसमय –अर्थसमय–ज्ञानसमय

प्रश्न – शास्त्राभ्यास का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर – मूल उपदेशदाता सर्वज्ञ भगवान हैं। जैसा सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में आया है, वैसा ही वस्तु का स्वरूप है। उस वस्तुस्वरूप का ज्यों का त्यों यथार्थ श्रद्धान–ज्ञान करके, संसार का नाश करना, यह शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है।

— जिनागम के गम्भीर रहस्यों को समझने के लिये तीन शब्दों का ज्ञान आवश्यक है –

(1) शब्दसमय, (2) अर्थसमय, (3) ज्ञानसमय।

1. भगवान की दिव्यध्वनि, वह शब्दसमय है।

2. वैसा ही पदार्थ का स्वरूप होना, यह अर्थसमय है।

3. वैसा ही स्वयं को श्रद्धान–ज्ञान हो, वह ज्ञानसमय है।

'इस गाथा में (पञ्चास्तिकाय, गाथा 3 में) शब्दरूप से, ज्ञानरूप से और अर्थरूप से (शब्द–समय, ज्ञानसमय और अर्थसमय) ऐसे तीन प्रकार से समय शब्द का अर्थ कहा है ?'

शब्दसमय — (1) सम, अर्थात् मध्यस्थ यानि जो रागद्वेष से विकृत नहीं हुआ, वाद, अर्थात् वर्ण, पद और वाक्य के समूहवाला पाठ। पाँच अस्तिकाय का **समवाद,** अर्थात् मध्यस्थ पाठ, वह शब्दसमय है, अर्थात् शब्दागम, वह शब्दसमय है।

अर्थसमय — कथन के निमित्त से ज्ञात हुए उस (वस्तुस्वरूप) पंचास्तिकाय का ही वस्तुरूप से **समवाय,** अर्थात् समूह, वह अर्थसमय है। अर्थात्, **सर्वदपदार्थ** समूह, वह अर्थसमय है।

ज्ञानसमय — मिथ्यादर्शन के उदय का नाश होने पर, उस पञ्चास्तिकाय का ही **सम्यक् अवाय,** अर्थात् सम्यग्ज्ञान, वह ज्ञानसमय है, अर्थात् ज्ञानागम, वह ज्ञानसमय है। *(श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा-3)*

सनातन वस्तुधर्म; अर्थात्, जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है कि शुभाशुभभाव, संसार है; इसलिए उनकी रुचि छोड़कर, स्वान्मुख होकर, निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञानपूर्वक निज आत्मस्वरूप में एकाग्र / लीन होना ही जीव का कर्तव्य है।
– **पण्डित दौलतराम**

प्रश्न – शब्दसमय, अर्थसमय, ज्ञानसमय–इन तीन शब्दों को बताने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर – शब्दसमय व अर्थसमय अनादि–अनन्त हैं, उनका निर्णय, अर्थात् ज्ञानसमय हो, तब शब्दसमय व अर्थसमय की कीमत है, वरना कुछ नहीं।

'ज्ञानसमय की प्रसिद्धि के हेतु, शब्दसमय के सम्बन्ध से अर्थसमय का कथन किया जाता है।' *(श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा-3)*

— भगवान की वाणी में आया शब्दागम क्या है ?

भगवान की वाणी में पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, निश्चय–व्यवहार, त्याग करने योग्य मिथ्यादर्शनादि, ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादि और आश्रय करने योग्य एकमात्र अपना त्रिकाली भगवान है — आदि समस्त कथन, भगवान की दिव्यध्वनि में आये शब्दागम, अर्थात् शब्दसमय हैं; ऐसा ही पदार्थ है; वैसा ही ज्ञान में आवे, तो शब्दागम की कीमत है।

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन ....

दिनाँक 25 फरवरी 1997

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं

प्रश्न – सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण क्या है ?

उत्तर – विपरीताभिनिवेशरहित तत्त्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण है।

'जो तत्त्वार्थश्रद्धान, विपरीत–अभिनिवेशरहित हो, वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार विपरीताभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धानपना, सो सम्यग्दर्शन का लक्षण है, सम्यग्दर्शन लक्ष्य है। वही तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है — तत्त्वार्थ श्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम् ॥1-2॥ तत्वार्थों का श्रद्धान, वही सम्यग्दर्शन है।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-318)

— तत्त्वार्थ तो अनन्त हैं। किस प्रकार ? जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तान्त, धर्म–अधर्म आकाश एक–एक और कालद्रव्य लोक प्रमाण असंख्यात हैं। ये सब जीव–अजीव में गर्भित हैं। किस प्रकार हैं ? जिसमें मेरा ज्ञान–दर्शन है — ऐसा मुझ आत्मा, जीव है और जिनमें मेरा ज्ञान–दर्शन नहीं है — ऐसे मुझ आत्मा के

हे भाई ! तुझे आत्मा का भला करना है न तो भला करने की पराकाष्ठा क्या ? अर्थात्, सबसे उत्कृष्ट भला—हित क्या है ? यह नक्की कर ! हित करने की अन्तिम हद सिद्धदशा है। वह सिद्धदशा कहाँ से आती है ? आत्मा के स्वभाव में परिपूर्ण सामर्थ्य भरी है, उसमें से ही वह दशा प्रगट होती है। इस प्रकार पूर्णता के लक्ष्य से ही साधकपने की शुरुआत होती है।

अलावा, अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक, और कालद्रव्य लोक प्रमाण असंख्यात, ये सब अजीव हैं।

— जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष-ये सात प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। इनमें से जीव-अजीव में तो उपरोक्तानुसार सर्व द्रव्य समाहित है और आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - ये जीव-अजीव की पर्यायें हैं। इन प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का विपरीत-अभिनिवेशरहित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

प्रश्न - जीव-अजीव तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय क्या है ?

उत्तर - जीव-अजीव तत्त्वार्थश्रद्धान करने का अभिप्राय केवल उनका निश्चय करना मात्र ही नहीं है। अर्थात्, जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ, और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है वे अजीवतत्त्व हैं, उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा याद कर लेना मात्र ही नहीं है, अपितु वहाँ अभिप्राय ऐसा है कि जीव-अजीव को पहचानकर, अपने को तथा पर को जैसा का तैसा माने।

'जीव-अजीव तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय ऐसा है — अपने को आपरूप जानकर, पर का अंश भी अपने में न मिलावे और अपना अंश भी पर में न मिलावे।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 225)*

प्रश्न - उपरोक्त सम्यक् अभिप्राय कैसे बने ?

उत्तर - जीव-अजीव, ये दोनों जाति जानने से कि जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व तो मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है, वे अजीवतत्त्व हैं, उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा निर्णय होने से स्व-पर का श्रद्धान होता है, तब पर से भिन्न अपने को आपरूप जानकर, अपने हित के अर्थ मोक्ष का उपाय करता है। अपने से भिन्न पर को जानकर, पर से उदासीन होकर, रागादिक त्याग कर मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करता है।

प्रश्न -जीव-अजीव, इन दो जातियों का सम्यक् श्रद्धान न हो तो क्या होता है ?

उत्तर - यदि जीव-अजीव इन दो जातियों का सम्यक् श्रद्धान न हो तो स्व-पर का श्रद्धान नहीं होता और पर्यायबुद्धि से सांसारिक प्रयोजन ही का उपाय करना है। अर्थात्, जब पर को अपना माना तो किसी को इष्ट और किसी को अनिष्ट

अपवित्र होने से, सात धातुमय होने से, नाकादि नौ छिद्र द्वारों से निरन्तर मल बहने से, स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र, विष्टा आदि अशुचि-मलों की उत्पत्ति का स्थान होनेमात्र से यह देह अशुचि नहीं है किन्तु यह शरीर, स्वरूप से भी अशुचि है और अशुचि मल आदि का उत्पादक होने से अशुचि है। निश्चय से अपने आप पवित्र होने से यह परम आत्मा ही शुचि या पवित्र है।

- श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव

माने बिना रहता नहीं है। जिसे इष्ट माना, उसे मिलाने में और जिसे अनिष्ट माना, उसे हटाने में — इस प्रकार राग-द्वेषरूप बर्तन करता है। जब परद्रव्य में राग-द्वेषरूप होकर प्रवर्ते तो मोक्षमार्ग में प्रवर्तन कर ही नहीं सकता और चारों गतियों में घूमकर निगोद चला जाता है।

प्रश्न - आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय क्या है ?

उत्तर - आस्रव-बन्ध-संवर निर्जरा मोक्ष, इन तत्त्वार्थ का अभिप्राय, केवल उनका निश्चय करना मात्र ही नहीं है, अर्थात् शुभाशुभ विकारीभावों का उत्पन्न होना, आस्रवतत्त्व है; शुभाशुभ विकारीभावों में अटकना, बन्धतत्त्व है; शुद्धि का प्रगट होना, संवर; शुद्धि में वृद्धि होना, निर्जरा; सम्पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना मोक्ष है — इस प्रकार परिभाषाएँ याद कर लेना मात्र ही नहीं है। वहाँ अभिप्राय ऐसा है कि आस्रव को पहिचानकर, उसे हेय माने; बन्ध को पहिचानकर, उसे अहित माने; संवर को पहिचानकर, उसे उपादेय माने; निर्जरा को पहचानकर, उसे हित का कारण माने, और मोक्ष को पहचानकर, उसे परम हित माने — ऐसा आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है।

प्रश्न - उपरोक्त अभिप्राय कैसे बने व ऐसा अभिप्राय क्यों बनाना ?

उत्तर - आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष — ये पाँच जीव-पुद्गल की पर्यायें हैं, स्वतन्त्र पर्यायें हैं। जीव का पुद्गल आस्रवादि से; पुद्गल का जीव आस्रवादि से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — इस सम्यक् अभिप्रायसहित पाँचों पर्यायों को जाने तो मोक्ष का उपाय करने का श्रद्धान होता है। वहाँ मोक्ष को पहिचाने तो उसे हितरूप मानकर उसका उपाय करे; अतः मोक्ष का श्रद्धान करना। मोक्ष का उपाय संवर-निर्जरा है; संवर-निर्जरा को पहचाने तो जैसे संवर-निर्जरा हो, वैसे प्रवर्ते; अतः संवर निर्जरा का श्रद्धान करना। संवर-निर्जरा, आस्रव-बन्ध के अभावपूर्वक होते हैं; अतः जिनका अभाव करना है, उनको पहचानना चाहिए। आस्रव का अभाव होने पर, संवर और बन्ध का अभाव होने पर, निर्जरा होती है; अतः आस्रव-बन्ध को पहचाने तो उनका नाश करके संवर-निर्जरारूप बर्तन करे। इसलिए आस्रव-बन्ध का श्रद्धान करना। इस प्रकार इन पाँच पर्यायों का श्रद्धान करने पर, मोक्षमार्ग होता ही होता है।

हे भाई! आचार्य भगवान कहते हैं कि तू सिद्ध है। अपने सिद्धत्व से इंकार मत करना। 'मैं सिद्ध हूँ' - ऐसे उल्लास से हाँ करके सिद्धदशा की ओर चले जाना। तेरी अवस्था में राग होता है, उसका तो आचार्यदेव को पता है, तो भी आचार्य भगवान स्वभावदृष्टि की मुख्यता से तेरे आत्मा में भी सिद्धत्व की स्थापना करते हैं; अतः तू भी स्वभावदृष्टि से 'हाँ' ही करना; अभी राग के सामने मत देखना।

प्रश्न – आस्रव–बन्ध–संवर–निर्जरा–मोक्ष को न पहिचाने तो क्या हो?

उत्तर – यदि आस्रव–बन्ध–संवर–निर्जरा–मोक्ष की पहचान न हो तो जीव, संसार का अभाव करके मोक्ष का पुरुषार्थ नहीं कर सकता, क्योंकि यदि मोक्ष की पहिचान ही नहीं है कि पूर्ण निराकुलतारूप मोक्ष है, तो मोक्ष का उपाय किसलिये करे? संवर–निर्जरा एकदेश सुखरूप है — ऐसी पहिचान के बिना, संवर–निर्जरारूप प्रवर्तन कैसे करे? आस्रव–बन्ध दु:खरूप हैं, संसार के कारण हैं — ऐसी पहिचान के बिना, आस्रव–बन्ध के नाश का उपाय कैसे करे? इस प्रकार इन पाँच पर्यायों का श्रद्धान न हो तो मोक्षमार्ग व मोक्ष नहीं होता।

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

दिनाँक 27 फरवरी 1997

जिनागम के अमूल्य सिद्धान्त

— जीव, केवल भाव कर सकता है; मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि, परद्रव्य में कुछ भी नहीं कर सकता है।

— कर्ता–कर्मसम्बन्ध, एक द्रव्य का उसकी पर्याय में ही होता है; दो भिन्न–भिन्न द्रव्यों में कर्ता–कर्मसम्बन्ध कभी नहीं होता।

'सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न–भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने–अपने परिणामों के कर्ता हैं। निश्चय से किसी के साथ, किसी का कर्ता–कर्मसम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार जीव अपने परिणामों का कर्ता है और अपने परिणाम, कर्म हैं। इसी प्रकार अजीव अपने परिणामों का कर्ता है और उसके अपने परिणाम, कर्म हैं।'

(श्री समयसार, गाथा 308-311 का भावार्थ)

— विश्व का कोई पदार्थ इष्ट–अनिष्ट नहीं है।

'पदार्थ में इष्ट–अनिष्टपना है नहीं। यदि पदार्थ में इष्ट–अनिष्टपना होता तो जो पदार्थ इष्ट होता, वह सभी को इष्ट ही होता और जो अनिष्ट होता, वह सभी को अनिष्ट होता, परन्तु ऐसा है नहीं।'

'परद्रव्यों को इष्ट–अनिष्ट मानकर, राग–द्वेष करना मिथ्या है। यदि परद्रव्य इष्ट–अनिष्ट होते और वहाँ राग–द्वेष करता तो मिथ्या नाम न पाता; वे तो इष्ट–अनिष्ट हैं नहीं।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-90)

मङ्गल समर्पण

एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से यह सम्पूर्ण लोक भरा हुआ है। जिस प्रकार बालू के समुद्र में गिरी हुई वज्रसिकता की कणिका का मिलना दुर्लभ है; उसी प्रकार स्थावर जीवों से भरे हुए इस भवसागर में त्रसपर्याय का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

– आचार्य पूज्यपाद

— जब तक अपना अनुभव नहीं, तब तक धर्म की गन्ध भी नहीं आ सकती। अपना अनुभव होते ही समस्त जिनशासन का पता चल जाता है।

'जो पुरुष, आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है।' *(श्री समयसार गाथा 15)*

— देव-गुरु-शास्त्र का श्रद्धान, सात तत्त्वों का श्रद्धान, स्व-पर का विचार व आत्म विचार, - यह धर्मप्राप्ति का राजमार्ग है, जिसके अनुसरण से जैनत्व की प्राप्ति होती है।

'देवादिक का श्रद्धान हो, तत्त्वों का विचार हो, फिर आपा-पर का चिन्तवन करे, फिर केवल आत्मा का चिन्तवन करे — इस अनुक्रम से साधन करे तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर जीव सिद्धपद को प्राप्त करता है।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 328)

— धर्म की प्राप्ति के लिये हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना योग्य है। वहाँ जीवादिक द्रव्यों व तत्त्वों को तथा स्व-पर को पहिचानना। त्यागने योग्य मिथ्यादर्शनादिक, ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहिचानना, तथा निमित्त-नैमित्तिकादि जैसे है, वैसे पहिचानना-इत्यादि मोक्षमार्ग में जिनके जानने से प्रवृत्ति होती है, उन्हें अवश्य जानना। *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ- 259)*

— मुझ आत्मा अलग है, शरीर अलग है - यह सम्पूर्ण जैनशासन का सार है।

जीव जुदा-पुद्गल जुदा, यही तत्त्व का सार।
अन्य कछु व्याख्यान जो, सब याही का विस्तार॥

(इष्टोपदेश, दोहा 50)

— जैनधर्म की आधारशिला स्याद्वाद-अनेकान्त हैं, जिसमें किसी अपेक्षा से कथन किया जाता है; मुख्य-गौण की अपेक्षा से वर्णन करके पदार्थों के सम्पूर्ण स्वरूप को सिद्ध किया जाता है।

अर्पितानर्पितसिद्धेः तत्त्वार्थसूत्र 6/32

अर्थ — प्रधानता और गौणता से पदार्थों की सिद्धि होती है। जीव, चेतन है-ऐसा कहने से जीव, अचेतन नहीं हैं - यह उसमें स्वयं गर्भितरूप से आ गया। इसमें जीव, चेतन है, यह कथन अर्पित हुआ और जीव, अचेतन नहीं है — यह कथन अनर्पित हुआ।' *(श्री मोक्षशास्त्र, अध्याय 5 सूत्र 32)*

हे जीव! सत्समागम से सत्य का श्रवण करके एक बार यथार्थ रुचि से हाँ कर। सत्स्वभाव की 'हाँ' करने से उसकी 'लत' लगने से 'हाँ' में से 'हालत' हो जाएगी। जैसा अपना स्वभाव है, उसकी रुचि करके हाँ करने से, वैसी हालत प्रगट हो जाएगी। सत्स्वभाव की हाँ कर तो सिद्धदशा होगी और सत्स्वभाव की ना करके, उसका अनादर करने से नरक—निगोददशा होगी। सत्य वस्तुस्वभाव को लक्ष्य में लेकर रुचिपूर्वक उसकी 'हाँ' करने में भी अपूर्व पात्रता है।

मङ्गल समर्पण

त्रसपर्याय में विकलत्रयों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रियों) की बहुलता है। जिस प्रकार गुणों, अर्थात् अच्छाईयों के समूह में कृतज्ञता का मिलना अतिदुर्लभ है; उसी प्रकार त्रसपर्याय में पञ्चेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। पञ्चेन्द्रिय पर्याय में भी पशु, मृग, पक्षी और सर्पादि तिर्यञ्चों की ही बहुलता है। अत: जिस प्रकार चौराहे पर पड़ी हुई रत्नराशि का प्राप्त होना कठिन है; उसी प्रकार मनुष्यपर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है।

– आचार्य पूज्यपाद

दिनाँक 28 फरवरी 1997

कर-कर निज हित प्राणी

— अनादि काल से अज्ञानी जीव, चारों गतियों में जन्म मरण के दु:ख उठाता हुआ भटक रहा है। किस कारण से ? अपनी मूर्खता के कारण। मूर्खता क्या है ? है तो स्वयं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व और अपने को कैलाशचन्द्र -रूपशरीर माना है। जब देह को अपना माना तो सारी मूर्खताएँ शामिल हो गयी। शरीर को अपना माना तो शरीर के कार्यों को अपना माना; अपना कार्य का पर से होना माना; सुख पाँच-इन्द्रियों से माना; ज्ञान, ज्ञेयों से माना-इतनी मूर्खताएँ अनादि काल से करता आ रहा है और सजा भुगत रहा है ! तरह-तरह की जेलों में तीन लोक का नाथ निज प्रभु भटक रहा है। हाय ! हाय ! इतना सताया जा रहा है। इसके दु:खों की कहानी इतनी विस्तृत है कि सारे समुद्र की स्याही बनाकर लिखें तो भी कम है। ऐसे समय में महान भाग्य से मनुष्यभव मिला, उसमें भी दुर्लभ जैन-कुल, दिगम्बरधर्म और वर्तमान में पूज्य गुरुदेवश्री का समागम मिला; उन्होंने मुझ पर बीते दु:खों से मुझे अवगत कराया, मुझे स्वयं को पहचानने की देशना दी, मुझे लगा अरे ! ये तो ऐसा ही है — मैं वर्तमान में भी दु:खी ही हूँ - अहो ! सारे सुयोग बन जाने पर भी — मनुष्यभव, अर्थात् विचारशक्ति होने पर भी, रागादि मन्द होने पर भी, यदि अपना कल्याण नहीं किया तो होनहार खराब है, दुष्टचित्त है।

'स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव, धर्मवचनों को नहीं सुनते, वे धीठ हैं और उनका दुष्ट चित्त है। अथवा जिस संसार भय से तीर्थङ्करादि डरे, उस संसारभय से रहित, सुभट हैं।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-20)*

'इसलिये अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब, सर्व प्रकार से अवसर आया है। ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है। इसलिए श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्य जीवों को प्रवृत्ति करना।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 313)*

दिनाँक 7 मार्च 1997

अचेतन का कर्ता-कारयिता अनुमोदक नहीं

— मुझ आत्मा का कैलाशचन्द्ररूप शरीर से, मन से, वाणी से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द भगवान व अमृतचन्द्राचार्य ने श्री प्रवचनसार, गाथा 160 में करुणा करके फरमाया है। हे प्रभु! मैं आपका उपकार कैसे चुकाऊँ?

— अनादि काल से 'शरीर है, सो मैं हूँ' — ऐसी विपरीतबुद्धि के कारण, मैंने संसार में दु:ख उठाया है। मैं कैलाशचन्द्ररूप हूँ, मैं उठता-बैठता हूँ, मैं बोलता हूँ, आँख से मैं देखता हूँ, कान से सुनती हूँ, मन से मैं जानता हूँ आदि विपरीतबुद्धि के कारण कभी धर्म की प्राप्ति नहीं हुयी? वर्तमान में महान भाग्य से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का योग बना। उन्होंने बताया कि शरीर से सर्वथा भिन्न तुम ज्ञायक भगवान आत्मा हो। इसी रहस्य को कुन्दकुन्दाचार्य ने श्री प्रवचनसार, गाथा 160 में परोसा है? कि मुझ आत्मा का देह, मन, वाणी से किसी भी प्रकार का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

'हुं देह नहि, वाणी न, मन नहि, तेमनुं कारण नहीं।
कर्ता न, कारयिता न अनुमंता हूँ कर्तानो नहीं॥160॥

अन्वयार्थ — मैं न देह हूँ, न मन हूँ, और न वाणी हूँ, उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ, और कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 160)

— मुझ आत्मा का देह-मन-वाणी से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है क्योंकि देह-मन-वाणी, परद्रव्य है। मुझ आत्मा, ज्ञायक है और देहादि एकमात्र मेरे ज्ञान का ज्ञेय है, यह भी व्यवहारकथन है। ज्ञान भी मुझ आत्मा के ज्ञानगुण का ही कार्य है; देहादि ज्ञेयों का नहीं। ज्ञायक और ज्ञान — ऐसा भेद भी जहाँ स्वीकार्य नहीं, बस! जो है, सो है; मात्र ज्ञायक-ज्ञायक। अत: मैं तो मध्यस्थ हूँ। क्योंकि —

1- मुझ आत्मा, देहादि का आधार नहीं है। वास्तव में मैं शरीर-वाणी-मन के स्वरूप का आधारभूत ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं हूँ। मैं, देहादि के स्वरूपाधार हुए

अहो! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, स्वयं सुखस्वभावी है। उसका सुख किन्हीं इन्द्रिय—विषयों में नहीं है; स्वर्ग में सुख नहीं है; पुण्य में सुख नहीं है। आत्मा का सुख पर में नहीं है, न आत्मा का दु:ख ही पर में है। परलक्ष्य से होनेवाले पुण्य-पाप के भाव हैं, वे आस्रव हैं, आकुलता है, मलिनभाव है, दु:खरूप है और आत्मा तो आकुलतारहित, पवित्र और सुखरूप है; इस प्रकार आत्मा और आस्रवों का भेद जानना ही सम्यग्ज्ञान का उपाय है।

मङ्गल समर्पण

बिना भी वे अपने स्वरूप को धारण करते हैं; इसलिए मैं, शरीर, वाणी और मन का पक्षपात छोड़कर, अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

अब प्रश्न उठता है कि मुझ आत्मा, देहादि के स्वरूप का आधार क्यों नहीं है ? क्योंकि मुझ आत्मा, अनादि-अनन्त है; शरीर का सम्बन्ध कुछ समय पहले बना तथा थोड़े समय बाद समाप्त हो जानेवाला है और मुझ आत्मा फिर भी रहेगा। मुझ आत्मा में ज्ञान है, शरीर आदि अचेतन है। मुझ आत्मा का और देहादि का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सर्वथा भिन्न-भिन्न है। किस प्रकार - अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, मुझ आत्मा का क्षेत्र है; प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, मुझ आत्मा का भाव है; अनादि-निधन मुझ आत्मा का काल है; वस्तु आप, मुझ जीवद्रव्य है। मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, कैलाशचन्द्र का क्षेत्र है; स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण, कैलाशचन्द्र का भाव है; नवीन जिसका संयोग हुआ है, यह कैलाशचन्द्र का काल है; ऐसे कैलाशचन्द्र शरीर आदि पुद्गल, पर हैं। अत: पृथक्-पृथक् सत्ता के धारी एक दूसरे का स्वरूप कैसे हो सकते हैं ? सर्वथा नहीं। अत: सिद्ध होता है कि मैं आत्मा, देहादि के स्वरूप का आधार नहीं हूँ।

'मुझ आत्मा, कारण भी नहीं है।'

2— मुझ आत्मा, देहादि के स्वरूप का आधार नहीं है क्योंकि दोनों का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अलग-अलग है। यह बात तो ठीक है परन्तु मुझ आत्मा, देह-मन-वाणी का निमित्तकारण तो है ? सर्वथा नहीं हैं। इसमें निमित्तकारण जीव नहीं है; कार्माणवर्गणा है, अर्थात् कर्म का उदय निमित्तकारण हैं। आत्मा, न उपादान है, न निमित्त है- किसका ? देह-मन-वाणी का। इस प्रकार -

'मुझ आत्मा, शरीर-मन-वाणी का कारण — ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं है। मैं कारणवान हुए बिना भी वे वास्तव में कारणवान् हैं। इसलिए उनके कारणपने का पक्षपात छोड़कर, यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 160)*

3— मुझ आत्मा, देह-मन-वाणी का कर्ता भी नहीं है। शरीर मन-वाणी, अचेतनद्रव्य हैं। शरीर का कर्ता, आहारवर्गणा है; मन का कर्ता, मनोवर्गणा है; भाषा का कर्ता, भाषावर्गणा है। ये सब पुद्गल अचेतन की स्कन्धरूप पर्यायें हैं। द्रव्य-गुण में से पर्याय होती हैं। यदि मुझ आत्मा, अचेतन कैलाशचन्द्र आदि का कर्ता हो तो नष्ट होकर देहादि रूप होना पड़ेगा, लेकिन मुझ आत्मा नष्ट होकर कैलाशचन्द्र शरीरादिरूप त्रिकाल में हो ही नहीं सकता; अत: मुझ आत्मा जब

मङ्गल समर्पण

यदि एक बार मनुष्यपर्याय मिल भी गयी तो फिर उसका दुबारा मिलना तो इतना कठिन है कि जितना जले हुए वृक्ष के परमाणुओं का पुन: उस वृक्ष पर्यायरूप होना कठिन होता है। कदाचित् इसकी प्राप्ति पुन: हो भी जावे तो भी उत्तम देश, उत्तम कुल, स्वस्थ इन्द्रियाँ और स्वस्थ शरीर की प्राप्ति उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए।

- आचार्य पूज्यपाद

कैलाशचन्द्र आदि में आज तक मिला नहीं और कैलाशचन्द्र देहादि का कार्य आज तक रुका नहीं – तो सिद्ध होता है कि कैलाशचन्द्र देह, मन, वाणी स्वतन्त्ररूप से अपना–अपना कार्य करते हैं; मुझ आत्मा की उन्हें पराधीनता ही नहीं हैं। अतः देहादि के कर्तत्व का अहंकार करके मैं अपना सत्यानाश क्यों करूँ? मुझ आत्मा ज्ञायक और कैलाशचन्द्र, मन–वाणी का कार्य, ज्ञेय है।

'मैं स्वतन्त्ररूप से शरीर–मन–वाणी का कर्ता, ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं हूँ; मैं (कर्ता) हुए बिना भी वे वास्तव में किये जाते हैं; इसलिए उनके कर्तृत्व का पक्षपात छोड़कर, मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 160)*

(4) मुझ आत्मा, देह–मन–वाणी का प्रयोजक – करानेवाला भी नहीं है। कैलाशचन्द्र शरीर, मन–वाणी अचेतनद्रव्य है; उनका कर्ता, अचेतन हैं। अचेतन, अर्थात् देह का कर्ता, आहारवर्गणा; मन का कर्ता, मनोवर्गणा व शब्द का कर्ता, भाषावर्गणा है। आहारवर्गणा आदि पुद्गलद्रव्य की स्कन्धरूप पर्यायें हैं। पुद्गल का प्रयोजक, पुद्गल ही है। यदि मुझ चेतन आत्मा, अचेतनकर्ता का करानेवाला हो तो मुझे नष्ट होकर आहारवर्गणा, मनोवर्गणा, भाषावर्गणा बनना पड़ेगा, जोकि सम्भव नहीं है। अब विचारने की बात है कि मुझ आत्मा आज तक पुद्गलरूप हुआ नहीं और पुद्गल का कार्य एक समय रुका नहीं – अर्थात्, मेरे द्वारा देहादि के कर्ता का प्रयोजक बने बिना भी वे वास्तव में कार्यरूप परिणमते हैं — तो मेरा पुद्गलादि के कार्यों के कर्ता का प्रयोजक बनने का अभिप्राय तो मिथ्या ही रहा। तो क्या करना? मुझ आत्मा का कैलाशचन्द्र शरीर–मन–वाणी से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है – ऐसा निर्णय करके, मध्यस्थभाव प्रगट करना।

'मैं, स्वतन्त्ररूप से, शरीर–वाणी तथा मन का कारक — ऐसा जो अचेतनद्रव्य है, उसका प्रयोजक नहीं हैं, मैं कर्ता–प्रयोजक बिना भी, वे वास्तव में किये जाते हैं; इसलिए यह मैं उनके कर्ता के प्रयोजकपने का पक्षपात छोड़कर, अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 160)*

(5) मुझ आत्मा, देह–मन–वाणी के कर्ता का अनुमोदक भी नहीं है। कैलाशचन्द्र शरीर–मन– वाणी अचेतनाद्रव्य हैं। अचेतनद्रव्य का कर्ता भी अचेतन; अचेतन कर्ता का अनुमोदक भी अचेतन ही होता है। अचेतन, अर्थात् देह का कर्ता, आहारवर्गणा; मन का कर्ता, मनोवर्गणा व शब्द का कर्ता, भाषावर्गणा है। आहारवर्गणा आदि पुद्गल की स्कन्धरूप पर्यायें हैं। पुद्गल का अनुमोदक,

आत्मा, अज्ञानभाव से अपनी अवस्था में विकारभाव को करके उसका कर्ता होता है और ज्ञानभाव से अपनी निर्मल अवस्था को करता है। आत्मा की पर्याय में होनेवाला विकार भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए उस विकार का कर्ता होनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है और जड़ का कर्तापना माननेवाला तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है।

पुद्‌गल ही है। यदि मुझ आत्मा–देह–मन वाणी के कर्ता का अनुमोदक हो तो मुझ आत्मा को नष्ट होकर क्रमश: आहारवर्गणा–मनोवर्गणा व भाषावर्गणा बनना पड़ेगा जोकि सम्भव ही नहीं है। अब विचारने की बात है कि मुझ आत्मा आज तक पुद्‌गलरूप हुआ नहीं और पुद्‌गल का कार्य भी एक समय रुका नहीं — अर्थात्, मुझ आत्मा के द्वारा देहादि के कर्ता का अनुमोदक बने बिना, देहादि वास्तव में कार्यरूप परिणमित होते हैं तो मैं देहादि के कर्ता का अनुमोदक बनने का मिथ्या अभिप्राय: करके अपना सर्वनाश क्यों कर रहा हूँ? सर्वनाश से बचने का एकमात्र उपाय – कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, निजात्मा को पहचानकर, ज्ञाता–दृष्टाभाव प्रगट करना है।

'मैं, स्वतन्त्ररूप से शरीर वाणी तथा मन का कारक — ऐसा जो अचेतनद्रव्य है, उसका अनुमोदक नहीं हूँ; मैं कर्ता–अनुमोदक बिना भी वे वास्तव में किये जाते हैं; इसलिए उनके कर्ता के अनुमोदकपने का पक्षपात छोड़कर, यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 160)*

इस प्रकार मुझ आत्मा, कैलाशचन्द्र नामरूप देह का, वाणी का व मन का आधार नहीं है, कारण नहीं है, कर्ता का प्रयोजक (करानेवाला) नहीं है, कर्ता का अनुमोदक नहीं है, अर्थात् मुझ आत्मा का कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों से किसी भी अपेक्षा, किसी भी प्रकार का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है– ऐसा श्रद्धान–ज्ञान हो तो उसी क्षण दु:ख का अभाव और सुख की प्राप्ति हो जाती है।

जिन्दगी छोटी है और जंजाल लम्बा है; इसलिए जंजाल कमकर, तो सुखरूप से जिन्दगी लम्बी लगेगी।

– ***श्रीमद राजचन्द्र***

दिनाँक 16अप्रैल 1997

परद्रव्यों से भिन्न आत्मस्वभाव

प्रश्न – श्री समयसार, गाथा 373 से 382 का संक्षेप में रहस्य क्या है ?

उत्तर – स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण और शब्दादिरूप परिणमते पुद्‍गल, आत्मा से कहीं यह नहीं कहते कि तू हमें जान और आत्मा भी अपने स्थान को छोड़कर, उन्हें जानने को नहीं जाता; दोनों सर्वथा स्वतन्त्रतया अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हैं, इस प्रकार आत्मा, पर के प्रति उदासीन (सम्बन्धरहित / तटस्थ) है, तथापि अज्ञानी जीव, स्पर्शादि को अच्छे-बुरे मानकर, रागी-द्वेषी होता है — यह उसका अज्ञान है।

प्रश्न – इन गाथाओं में मुझ ज्ञानस्वरूपी आत्मा को किन परद्रव्यों से भिन्न बताया है ?

उत्तर – हल्का-भारी, ठण्डा-गरम, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम — स्पर्शगुण की ये आठ पर्यायें; खट्टा, मीठा, कड़वा, चरपरा, कषायला-रसगुण की पाँच पर्यायें; सुगन्ध-दुर्गन्ध ये गन्धगुण की दो पर्यायें; काला, पीला, नीला, लाल, सफेद-वर्णगुण की पाँच पर्यायें; सात प्रकार की आवाजें – ये 27 पर्यायें, पुद्‍गल की हैं; समानजातीयद्रव्यपर्यायें, असमानजातीयद्रव्यपर्यायें और धर्म-अधर्म - आकाश-काल - से सब परद्रव्य हैं, मुझ आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं।

प्रश्न – आत्मा क्या कर सकता है ?

उत्तर – मुझ आत्मा, चैतन्यस्वरूप है। मुझ आत्मा इन सब परद्रव्यों को अपने में रहते हुए ही जान तो सकता है परन्तु परद्रव्यों में कुछ कर नहीं सकता।

प्रश्न – आत्मा, परद्रव्यों में कुछ करता तो नहीं – यह तो हमने माना परन्तु आत्मा, परद्रव्यों को जानता तो है, इतना तो सम्बन्ध है ?

उत्तर – जानना तो आत्मा का अपना स्वभाव है। परद्रव्यों को जानता है, यह व्यववहारकथन है क्योंकि –

1- परद्रव्य, आत्मा से यह नहीं कहते कि तू हमें जान।

2- आत्मा भी अपना स्थान छोड़कर, उन्हें जानने नहीं जाता।

भगवान सर्वज्ञदेव की वाणी में ऐसा आया है कि जो चैतन्यतत्व को चूककर, पुण्य-पाप का कर्ता होता है, उसे हम जैन नहीं कहते क्योंकि उसने शुद्धस्वभाव की दृष्टि से पुण्य-पाप को नहीं जीता है, अपितु विकार को अपना स्वरूप मानकर, स्वयं विकार के द्वारा जीता गया है; इस कारण वह जैन नहीं है।

मङ्गल समर्पण

3- क्योंकि वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का कायम रहकर बदलना उसका स्वभाव है।

4- परद्रव्य दूर हों या समीप हों - आत्मा अपने से ही जानता है; परद्रव्यों के कारण नहीं।

5- परद्रव्य तो स्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त हैं कुछ परद्रव्य कोयलेरूप हैं, कुछ हीरा, माणिक, मोतीरूप हैं; कुछ विष्टारूप हैं, कुछ सुगन्धित और कुछ दुर्गन्धरूप हैं परन्तु वे आत्मा में किंचित भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

6-मुझ आत्मा, दीपक की भाँति पर से सम्बन्धरहित तटस्थ है, उदासीन है।

7- फिर राग-द्वेष क्यों होता है ?

निज ज्ञानस्वभाव को न पहचानने के कारण और वस्तु-स्वरूप को न जानने के कारण, परद्रव्यों को अपना मानकर, किसी को इष्ट, किसी को अनिष्ट मानकर; जिसे इष्ट माना है, उसे मिलाने में और जिसे अनिष्ट माना है, उसे हटाने में लगा रहने के कारण, मोह राग-द्वेषरूप परिणमित होता हूँ जो कि अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण, मैं अनादि काल से एक-एक समय करके संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ।

अब, संसार का अभाव कैसे हो ?

मैं, ज्ञान-दर्शन, उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ, मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है और विश्व के प्रत्येक द्रव्य का कायम रहकर बदलना उसका स्वभाव है — ऐसा जाने-माने तो तत्काल निज ज्ञानस्वभाव का आश्रय हो जायेगा और राग-द्वेष का अभाव होकर, वीतरागता प्रगट हो जायेगी। ***(श्री समयसार, गाथा 373 से 382 तक)***

हजारों उपदेश - वचन और कथन सुनने की अपेक्षा उनमें से थोड़े भी वचनों का विचार करना विशेष कल्याणकारी है।

- ***श्रीमद राजचन्द्र***

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

दिनाँक 24 मई 1997

धर्म प्राप्ति का अनुक्रम

पण्डित टोडरमल जी सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण बताते हैं :-

विपरीत अभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान यह सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध संवर-निर्जरा और मोक्ष, ये सात तत्त्वार्थ हैं-

प्रश्न - विपरीत अभिनिवेशरहित जीव तत्वार्थश्रद्धान क्या है ?

उत्तर - जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व है। — ऐसा याद कर लेना मात्र ही विपरीत अभिनिवेशरहित तत्त्वार्थश्रद्धान नहीं है।

1- तत्त्व - जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये।

2- अर्थ - वह जीवतत्त्व है।

3- तत्त्वार्थ - जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व है।

4- तत्त्वार्थश्रद्धान - जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ — ऐसा पहचानकर स्वयं को जैसा का तैसा माने - ऐसा विपरीत अभिनिवेशरहित जीव तत्त्वार्थश्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 328का रहस्य)

प्रश्न - राजमार्ग क्या है ?

उत्तर - पहले देवादिक का श्रद्धान हो, फिर तत्त्वों का विचार हो, फिर आपा-पर का चिन्तवन करे, फिर केवल आत्मा का चिन्तवन करे, इस अनुक्रम से साधन करें तो परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर, हम सिद्धपद को प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न - उपरोक्त अनुक्रम को किस प्रकार अङ्गीकार करने से कार्यसिद्धि होती ही है ?

उत्तर - 1- पहले तो आज्ञादि से व किसी परीक्षा से कुदेवादि की मान्यता छोड़कर, अरहन्त देवादि का श्रद्धान करना, क्योंकि इस श्रद्धान से गृहीतमिथ्यात्व का तो अभाव होता है, मोक्षमार्ग में विघ्न करनेवाले कुदेवादि का निमित्त दूर होता

देखो! जैनकुल में जन्मनेमात्र से ही कोई वास्तव में जैन नहीं कहलाता है। जैसे, थैली पर शक्कर लिखा हो और अन्दर चिरायता भरा हो तो इससे चिरायते की कड़वाहट का अभाव नहीं हो जाता; इसी प्रकार नाम से जैन कहलाने पर भी अन्तर में आत्मा को पुण्य-पाप का कर्ता माननेवाले को सर्वज्ञदेव, जैन नहीं कहते। जो आत्मा, पुण्य-पापरहित ज्ञातास्वभाव में एकत्वदृष्टि से निर्मल अवस्था का कर्ता होता है, वह जैन है।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

है; मोक्षमार्ग के सहायक, अरहन्त देवादि का निमित्त मिलता है; इसलिए पहले **देवादि का श्रद्धान** करना।

2- फिर जिनमत में कहे जीवादि तत्त्वों का विचार करना, नाम लक्षणादि सीखना, क्योंकि इस अभ्यास से तत्त्वार्थश्रद्धान की प्राप्ति होती है।

3- फिर आपा-पर का भिन्नपना जैसे भासित हो, वैसे विचार करता रहे। क्योंकि इस अभ्यास से **भेदविज्ञान** होता है।

4- फिर आप में अपनत्व मानने के लिए, स्वरूप का विचार करता रहे। क्योंकि इस अभ्यास से **आत्मानुभव** की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार अनुक्रम से इनको अङ्गीकार करके, फिर कभी देवादिके विचार में, कभी तत्त्वविचार में, कभी स्व-पर के विचार में और कभी आत्मविचार में उपयोग लगाये, तब दर्शनमोह मन्द होता जाये और कदाचित सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

प्रश्न - किन जीवों को धर्म की प्राप्ति नहीं होती ?

उत्तर - जो जीव इस अनुक्रम की जानकारीमात्र से ही सन्तुष्ट हैं लेकिन इस अनुक्रम के अनुसार साधन करने के बजाय, इसका उल्लंघन करते हैं, उन्हें कभी धर्म की प्राप्ति नहीं होती। किस प्रकार-

1 - इस अनुक्रम का उल्लंघन करके, जिन्हें देवादिक की मान्यता का तो ठिकाना नहीं है और बुद्धि की तीव्रता से तत्त्वविचारादि में प्रवर्तता है और अपने को ज्ञानी मानता है- सो ये सब चतुराई की बातें हैं, मानादिक कषाय के साधन हैं; कुछ भी कार्यकारी नहीं है। यदि कोई जीव, अपना भला करना चाहे तो उसे जब तक सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो इनको अनुक्रम ही से अङ्गीकार करना।

2 - इस अनुक्रम का उल्लंघन करके जिसके देवादिक की मान्यता का तो कुछ ठिकाना नहीं है और तत्त्वविचार में भी उपयोग नहीं लगाता और आपा-पर का भेदज्ञानी हुआ रहता है सो यह सब चतुराई की बातें हैं, मानादिक कषाय के साधन हैं; कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

3 - इस अनुक्रम का उल्लंघन करके जिसके देवादि की मान्यता का तो कुछ ठिकाना नहीं है और आपा-पर का भी ठीक नहीं करता और अपने को

हे जीव! तू भ्रम में मत पड़, तुझे हित की बात कहता हूँ। अन्तर में सुख है, बाहर खोजने से नहीं मिलेगा। अन्तर का सुख अन्तर की समश्रेणी में है, उसमें स्थिति होने के लिए बाह्य पदार्थों का विस्मरण कर, आश्चर्य भूल।

- *श्रीमद राजचन्द्र*

आत्मज्ञानी मानता है, सो यह सब चतुराई की बातें हैं, मानादिक कषाय के साधन हैं; कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

अत: जो जीव अपना भला करना चाहे, उसे जब तक सच्चे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो, तब तक इनको अनुक्रम ही से अङ्गीकार करना।

प्रश्न – हम तो सच्चे देवादिक को मानते हैं, निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास करते हैं, इसी अनुक्रम के अनुसार साधन करते हैं तो हमें धर्म की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

उत्तर – 1. जिनमत के जीवादि तत्त्वों को मानता है, अन्य को नहीं मानता, उनके नाम-भेदादिक को सीखता है — ऐसा तत्त्वश्रद्धान होता है लेकिन उनके यथार्थभाव का श्रद्धान नहीं होता; अत: हमारा सात तत्त्वों का विचार ही खोटा है।

2- स्व-पर की भिन्नता की बातें करें, चिन्तवन करे परन्तु जैसे शरीर में अहंबुद्धि और वस्त्रादि में परबुद्धि है; इसी प्रकार आत्मा में अहंबुद्धि और शरीर में परबुद्धि नहीं होती; अत: स्व-पर का विचार भी खोटा है।

3- जिनवचनानुसार आत्मा का चिन्तवन करे परन्तु प्रतीतिरूप आपका आपरूप श्रद्धान नहीं करता; अत: आत्मा का विचार भी खोटा है।

4- अरहन्तदेवादि के सिवाय, अन्य कुदेवादि को नहीं मानता परन्तु उनके स्वरूप को यथार्थ पहिचानकर श्रद्धान नहीं करता; अत: देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान भी खोटा है।

प्रश्न – हम किस प्रकार मानें तो हमारा देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान, सात तत्त्वों का विचार, आपा-पर का चिन्तवन व आत्मा का चिन्तवनरूप अनुक्रम सही कहलावे ?

उत्तर – शरीर को अपना न मानें – बस एकमात्र यही उपाय है। जिस क्षण शरीर को अपना नहीं माना, उसी क्षण दृष्टि निज जीव पर आ जायेगी। आस्रव-बन्ध भागने शुरु हो जायेंगे; संवर-निर्जरा की प्राप्ति होकर, क्रम से मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। ऐसा होने पर ही – देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान सच्चा, सात तत्त्वों का श्रद्धान सच्चा, आपा-पर का श्रद्धान सच्चा और आत्मश्रद्धान सच्चा कहलायेगा।

अरे आत्मा! तेरी चैतन्य जाति सबसे भिन्न है। इसमें पुण्य-पाप, वह तेरा स्वरूप नहीं है। शरीर की क्रिया का प्रवर्तन भी तेरा नहीं है; तू तो जाननहार चेतनमूर्ति है। अन्तर में ऐसे चेतन की मुख्यता ही सच्चा साधन है परन्तु स्वच्छन्दता से, अर्थात् सद्गुरुगम के बिना वह समझ में नहीं आता है।

दिनाँक 25 -9- 1996

ध्रुव शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य

श्री प्रवचनसार, अनादि के मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को मिटाने का उपाय बतलाता है। मैं एक हूँ, मैं शुद्ध हूँ, अर्थात् मैं अनेक नहीं हूँ, मैं अशुद्ध नहीं हूँ; देह-धनादिक अनेक हैं, अशुद्ध हैं — उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते मानते ही अनादि का मोहरूपी अन्धकार लीलामात्र में समाप्त हो जाता है। जिनके संसार समुद्र का किनारा निकट है, अर्थात् अल्प है और सुनते ही जिनके विवेक ज्योति प्रगट हो गयी है और चारित्र की प्राप्ति हो गयी है, ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, श्री प्रवचनसार गाथा 7 में कहते हैं - 'स्वरूपेचरणं-चारित्र' स्वरूप में आचरण ही चारित्र है। मोह-क्षोभरहित आत्मपरिणाम, वह चारित्र है।

विवेकसहित-स्व-पर के भेदविज्ञानसहित चारित्र की प्राप्ति कैसे हो? जिनके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है — ऐसे देह-धनादिक में जो 'मैं यह हूँ-यह मेरा है' — ऐसी ममता का त्याग नहीं करता, वह कितना ही शास्त्र का अभ्यासी हो, कितने ही व्रत, उपवास करता हुआ भी चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है। चारों गति का अभाव होकर, पञ्चम गति मोक्ष की प्राप्ति लीलामात्र में जिस उपाय से हो जाती है — ऐसे देह-धनादिक में ऐसा विवेक करता है कि 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरा नहीं है; मैं तो एक ज्ञान हूँ', इस प्रकार जो ध्यान करता है, वह ध्याता, ध्यानकाल में आत्मा होता है। परद्रव्यों में मध्यस्थ रहकर, अर्थात् उनका मात्र ज्ञायक रहकर जो प्रवर्तता है, वह लीलामात्र में अनादि मोहरूप अन्धकार का नाश करके वीतरागपरिणति प्रगट करता है।

देह, धनादिक से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है, वे उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं क्योंकि अनेक हैं, अशुद्ध हैं। अब प्रश्न उठता है कि उपलब्ध करने योग्य है कौन? ध्रुवत्व के कारण, शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है, क्योंकि निजात्मा ज्ञानात्मक, दर्शनरूप, इन्द्रियों के बिना ही सबको जाननेवाला, अतीन्द्रिय, महापदार्थ, ज्ञेय-परपर्यायों का ग्रहण-त्याग न करने से अचल, ज्ञेयों का आलम्बन न लेने से निरालम्ब है; अत: एक है, एक होने से शुद्ध है, — ऐसा मुझ शुद्धात्मा ध्रुव होने से एकमात्र उपलब्ध करने योग्य है।

ऐसी निज शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या होता है? देह-धनादिक, सुख-

मङ्गल समर्पण

कोई विकराल सिंह झपट्टा मारता हुआ अपने पीछे आ रहा हो तो स्वयं कैसी दौड़ लगायेगा? क्या वहाँ श्वाँस लेने के लिए भी खड़ा रहेगा? उसी प्रकार यह कालरूपी सिंह झपट्टा मारता हुआ पीछे दौड़ता आ रहा है और **अभी** आत्महित के अनेक कार्य करना है — ऐसा उसे निरन्तर लगना चाहिए।

-पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

दुख, शत्रु-मित्रजन अनेक हैं; अनेक हैं, तो अशुद्ध हैं और अशुद्ध होने से अध्रुव हैं; अध्रुव होने से उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं। निजात्मा एक, शुद्ध और ध्रुव होने से वही एकमात्र उपलब्ध करने योग्य है — ऐसा जानकर जो निजात्मा का ध्यान करता है, उसके मोहग्रन्थि का नाश हो जाता है और फिर निज शुद्धात्मा में ही स्थिर होता हुआ, क्रम से पूर्णता को प्राप्त करता है।

प्रवचनसार, गाथा 154 में भी यही कहा है — मनुष्य, देव इत्यादि अनेक द्रव्यात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायों में भी जीव का स्वरूप-अस्तित्व और प्रत्येक परमाणु का स्वरूप-अस्तित्व, सर्वथा भिन्न-भिन्न है। स्व-पर के भेदविज्ञान के लिये, धर्म की प्राप्ति करने के लिये, दु:खों का अभाव करने के लिए निजात्मा के स्वरूप-अस्तित्व को पद-पद पर लक्ष्य में लेना योग्य हैं। किस प्रकार लक्ष्य में लेना ? यह जानने में आता हुआ चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य जिसका स्वभाव है — ऐसा मैं, इस पुद्गल कैलाशचन्द्र से भिन्न रहा। ऐसा निर्णय ही मोहग्रन्थि के भेद का (टूटने का) एकमात्र उपाय है।

मोहग्रन्थि के टूटने से क्या होता है ? अकेले ही आया, अकेले ही जायेगा, संसार में अकेला और मोक्ष में भी अकेला - ऐसा निर्णय होते ही मोहग्रन्थि के टूटने से अक्षय सुख को प्राप्त करता है; सादि-अनन्त काल के लिये सुखी हो जाता है। मोहग्रन्थि के तोड़ने का उपाय-

तास ज्ञान को कारण स्व-पर विवेक बखानौ।
कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनौ॥
लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दंद-फंद नित आतम ध्याओ॥

(छहढ़ाला, चौथी ढ़ाल)

जिसने देह, धनादिक में, जिनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, ममता का सम्पूर्णतया परित्याग कर दिया है, उसे आत्मा के सिवाय अन्य कोई शरण नहीं है। जैसे, समुद्र के बीच में पहुँचे हुए जहाज पर बैठे पंछी की भाँति, उस पंछी की भाँति जिसे वृक्ष या भूमि आदि की कोई शरण नहीं है; अत: उसका उड़ना बन्द हो जाता है; उसी प्रकार देहादि में ममता के परित्याग से दूसरा कोई शरण न होने से, मन निरोध को प्राप्त करता है, अर्थात् अनन्त सहज चैतन्यात्मक स्वभाव ही मात्र शरणभूत है।

अहो! मैं स्वयं परमात्मा शक्ति का भण्डार प्रभु हूँ। जितने जीव भगवान हुए, वे सब अन्तर में एकाग्रता से ही हुए हैं। मैं भी अपने स्वभाव में एकाग्रता से भगवान होऊँ - ऐसी मुझमें सामर्थ्य है। मैं आत्मा जानने-देखनेवाला हूँ, परसन्मुखता का विकार, वह मैं नहीं हूँ। ऐसे स्वभाव का निर्णय करना ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का और मिथ्यात्व के नाश का उपाय है।

मङ्गल समर्पण

जिनको मात्रस्वभाव ही शरणभूत है — ऐसे धर्मात्मा जीव करते क्या हैं ? ऐसा प्रश्न श्री प्रवचनसार, गाथा 197 में उठाया है। उत्तरस्वरूप गाथा 198में कहा है कि सकलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा इस परम सौख्य का ध्यान करते है। एक अग्र का (निजात्मा का) संवेदन, ध्यान है। सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में आनन्द और ज्ञान से भरे हुए सर्वज्ञ भगवान परमानन्द से अभिन्न ऐसे निजात्मरूपी एक विषय का संवेदन करते हैं, परमानन्द का ध्यान करते हैं और परमसौख्य का सादि-अनन्त ध्यान करते हैं। आज तक जितने सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे — वे सब इसी उपाय से हो चुके हैं, हो रहे हैं और होंगे।

अब क्या करना ? मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ, ज्ञायक होने से मेरा विश्व के साथ सहज ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध ही है, किन्तु अन्य स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है; मेरा किसी भी शरीर, बच्चे, मित्र, कुटुम्ब आदि के साथ सम्बन्ध नहीं है; अत: किसी के प्रति ममत्व नहीं, सर्वत्र निर्ममत्व ही है —ऐसा निर्णय हो तो ज्ञायकपना प्रगट हो जाता है।

इन समस्त गाथाओं का सार मात्र यही है कि निजात्मा को कैलाशचन्द्ररूप शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न जानकर पहचानकर वीतरागभाव की प्राप्ति करना —आत्मा के आश्रय से वीतरागभाव प्रगट करना है। आत्मा मैं स्वयं हूँ - स्वयं को स्वयं हर समय उपलब्ध है; अत: तुरन्त शरीर से भिन्न स्वयं का आश्रय करके, वीतरागधर्म पर्याय में प्रगट करके संसार का नाश करना।

(श्री प्रवचनसार, गाथा 190 से 198)

कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा करने से दीर्घकाल तक मिथ्यात्व का पोषण होता है; इसलिए कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन, गृहीत मिथ्यादर्शन कहलाता है।

- पण्डित दौलतराम

दिनाँक 23 -1- 1997

मोक्ष शब्द से सात तत्त्वों की सिद्धि

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा रचित 'श्री मोक्षमार्गप्रकाशक' ग्रन्थ, यथा नाम तथा गुण कहावत को चरितार्थ करता है। अर्थात्, मोक्षमार्ग का प्रकाश करता है, मोक्षमार्ग प्रगट करने का उपाय बताता है।

प्रथम 'मोक्ष' शब्द ही सम्पूर्ण जैनशासन को स्वयं में समेटे हुए है — क्योंकि मोक्ष, सम्पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना है। मोक्ष, संवर व निर्जरापूर्वक होता है। शुद्धि का प्रगट होना, संवर व शुद्धि की वृद्धि होना, निर्जरा है। संवर और निर्जरा, आस्रव-बन्ध के अभावपूर्वक होते हैं। शुभाशुभविकारी भावों का उत्पन्न होना, आस्रव और शुभाशुभ विकारी भावों में अटकना, बन्ध है। आस्रव -बन्ध, अजीवतत्त्व के निमित्त से होते हैं। जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन न पाया जाये, वे अजीवतत्त्व हैं। आस्रव-बन्ध का अभाव और संवर-निर्जरा-मोक्ष की प्राप्ति, जीवतत्त्व के आश्रय से होती है। जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व है।

जीवतत्त्व का आश्रय लेना कैसे बने ? जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है — ऐसे मुझ निजात्मा के अलावा अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं; उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते-मानते ही जीवतत्त्व का आश्रय स्वयंमेव हो जाता है। — इस प्रकार मात्र 'मोक्ष' शब्द स्वयं में परिपूर्ण है।

मैं एक समय में परिपूर्ण स्वतः सिद्ध अनन्त ज्ञानशक्ति से भरपूर परमात्मा हूँ - ऐसे सम्पूर्ण स्वभाव को श्रद्धा में पचा देने की आत्मा में सामर्थ्य है। एक समय की सम्यग्दर्शन पर्याय में सम्पूर्ण परमात्मस्वभाव को स्वीकार करने की ताकत है। जिसने एक समय में त्रिकाली स्वभाव को प्रतीति में लिया, उसे मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। श्रद्धा की पाचकशक्ति, मिथ्यात्व का नाश करती है; ज्ञान की प्रकाशकशक्ति, अज्ञान अन्धकार का नाश करती है और चारित्र की दाहकशक्ति, पुण्य-पाप के विकारीभावों को जला देती है।

मङ्गल समर्पण

जिनमार्ग में तीन लिङ्ग तो श्रद्धापूर्वक हैं। एक तो जिनस्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिङ्ग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकरूप दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकलिङ्ग और तीसरा आर्यिकाओं का रूप - यह स्त्रियों का लिङ्ग — इन तीन के अतिरिक्त कोई चौथा लिङ्ग सम्यग्दर्शन स्वरूप नहीं है।

- आचार्य कुन्दकुन्द

दिनाँक 24 -1- 1997

मङ्गल : अर्थ एवं प्रयोजन

पण्डित टोडरमलजी सर्व प्रथम मङ्गलाचरण करते हैं -

मङ्गलमय मङ्गलकरण वीतराग विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये अरहंतादि महान॥
करि मङ्गल करिहों महा, ग्रन्थ करन के काज।
जातैं मिले समाज सब, पावै निजपद राज॥

सर्व प्रथम यह जानना आवश्यक है कि 'मङ्गल' आखिर है क्या और 'मङ्गलाचरण' कब होता है ?

पण्डित टोडरमलजी ने ही 'मङ्गल' शब्द का अर्थ अस्ति व नास्ति से श्री मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 8पर निम्न प्रकार दिया है —

'मङ्ग', अर्थात् सुख, उसे 'लाति', अर्थात् देता है; अथवा 'मं', अर्थात् पाप, उसे 'गालयति', अर्थात् गाले, दूर करे, उसका नाम 'मङ्गल' है।'

— मङ्ग, अर्थात् सुख / सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और 'मं' अर्थात् पाप / मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होकर, मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र का अभाव हो — ऐसा निज वीतराग-विज्ञानतास्वरूप निजात्मा ही परम 'मङ्गल' है। ऐसे मङ्गलमयी निजात्मा में लीनता करना ही 'मङ्गलाचरण' है।

— उपरोक्त मङ्गलकरण का अर्थ क्या है ?

वीतराग-विज्ञानता मङ्गलमयी है और मङ्गल को करनेवाला है।

जिस वीतराग-विज्ञानता के कारण अरहन्तादि महान हुए हैं, उस वीतराग-विज्ञानता को मैं नमस्कार करता हूँ।

— मङ्गलमयी व मङ्गलकरण में कुछ अन्तर है क्या ?

मङ्गलमयी, द्रव्यसूचक है और मङ्गलकरण, पर्याय सूचक है।

— वीतराग-विज्ञानता कितने प्रकार की है ?

वीतराग-विज्ञानता आठ प्रकार की है —

— वीतराग–विज्ञानतारूप निज शुद्धात्मा।

— वीतराग–विज्ञानतारूप निमित्तरूप पञ्च परमेष्ठी और चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्धदशा तक की पर्याय में छह प्रकार की वीतराग विज्ञानता, अर्थात् चौथे, पाँचवें, छठवें–सातवें गुणस्थान, श्रेणी, अरहन्त और सिद्धदशा का वीतराग–विज्ञानता।

इनमें से वीतराग–विज्ञानतारूप निज शुद्धात्मा को उपादान दृष्टि से मङ्गलमयी व निमित्तरूप पञ्च परमेष्ठी को निमित्त की अपेक्षा मङ्गलमयी कहते हैं और पर्याय में छह प्रकार की वीतराग–विज्ञानता मङ्गलकरण है।

वीतराग–विज्ञानता के आठ प्रकार जिनवाणी में कहाँ आये हैं —

'जीवतत्त्व की अपेक्षा तो सर्व ही जीव समान हैं, परन्तु रागादि विकारों से व ज्ञान की हीनता से तो जीव, निन्दायोग्य होते हैं और रागादि की हीनता से व ज्ञान की विशेषता से जीव, स्तुतियोग्य होते हैं; सो अरहन्त, सिद्धों के तो सम्पूर्ण रागादि की हीनता व ज्ञान की विशेषता होने से सम्पूर्ण वीतराग–विज्ञानभाव सम्भव है और आचार्य, उपाध्याय व साधुओं को एकदेश रागादि की हीनता व ज्ञान की विशेषता होने से एकदेश वीतराग–विज्ञान सम्भव है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 4)*

— विज्ञान के भी दो प्रकार हैं –

(1) अज्ञानरूप विज्ञान, (2) वीतराग–विज्ञान

जो परिणाम, स्व–पर के एकत्वपने के अभिप्राय से युक्त हो, वह अज्ञानरूप विज्ञान है और जो परिणाम, स्व–पर के भिन्नत्व के अभिप्राय से युक्त हो, वह वीतराग–विज्ञान है।

जब वीतराग–विज्ञानतारूप निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही धर्म होता है तो निमित्तरूप वीतराग –विज्ञानतारूप पञ्च परमेष्ठी को उत्तम क्यों कहा गया है ?

क्योंकि निमित्तरूप पञ्च परमेष्ठी ने ही यह बताया है कि तेरा भला वीतराग–विज्ञानतारूप निज शुद्धात्मा के आश्रय से ही होगा; शुभभाव व शरीर की क्रिया से नहीं; अत: जो निमित्तरूप पञ्च परमेष्ठी को उत्तम मानता है, उसी का भला हो सकता है; जो शुभभाव व शरीर की क्रिया से धर्म बतानेवाले कुदेवादि को मानता है, उसका भला नहीं हो सकता; अत: निमित्तरूप वीतराग–विज्ञानतारूप पञ्च परमेष्ठी को उत्तम कहा है।

किसी आत्मा में एक तिनके को तोड़ने की सामर्थ्य तीन काल–तीन लोक में भी नहीं है। जड़ परमाणुओं की अवस्था में चैतन्य का अधिकार नहीं है। अज्ञानी जीव, पर का भला–बुरा करना मानता है परन्तु वह भी अपने अज्ञानभाव के अतिरिक्त, पर में कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक पदार्थ में अपनी अनन्त शक्ति होने पर भी 'पर का कुछ करे' – ऐसी शक्ति तो किसी द्रव्य में किञ्चित्मात्र भी नहीं है।

यही कहा है —

'पहले तो आज्ञादि से व किसी परीक्षा से कुदेवादिक की मान्यता छोड़कर, अरहन्तदेवादिक का श्रद्धान करना क्योंकि यह श्रद्धान होने पर गृहीतमिथ्यात्व का तो अभाव होता है, मोक्षमार्ग के सहायक अरहन्त देवादिक का निमित्त मिलता है; इसलिए पहले देवादिक का श्रद्धान करना।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 328)*

— 'जिनके ध्यान द्वारा भव्य जीवों को स्वद्रव्य-परद्रव्य का और औपाधिकभाव-स्वभावभावों का विज्ञान होता है, जिसके द्वारा उन सिद्धों के समान स्वयं होने का साधन होता है। अत: साधने योग्य जो अपना शुद्धस्वरूप, उसे दर्शाने को प्रतिबिम्ब समान हैं.... ऐसे निष्पन्न हुए सिद्ध-भगवान को हमारा नमस्कार हो।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 2)*

— 'अरहन्तदेवादि का श्रद्धान, सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धान का कारण है और कुदेवादि का श्रद्धान, कल्पित तत्त्वश्रद्धान का कारण है — सो बाह्यकारण की प्रधानता से कुदेवादि का श्रद्धान छुड़ाकर, सुदेवादिक का श्रद्धान कराने के लिए, देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान को मुख्य लक्षण किया है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 2)*

— 'वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं - जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिन्तवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर, उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण पञ्चम गति मोक्ष को प्राप्त करते हैं।'

(श्री समयसार, गाथा 1 की टीका)

— निमित्तरूप वीतराग-विज्ञानतारूप पञ्च परमेष्ठी को ही उत्तम मानने पर भी, जीव को पर्याय में छह प्रकार की वीतराग-विज्ञानता की प्राप्ति नहीं होती — उसका कारण क्या है ?

— 'जिसके मिथ्यात्व का उदय है, उसके विपरीत अभिनिवेश पाया जाता है, उसके यह लक्षण आभासमात्र होते हैं; सच्चे नहीं होते। .... अरहन्त देवादिक के सिवा अन्य कुदेवादि को नहीं मानता; परन्तु उनके स्वरूप को यथार्थ पहिचानकर श्रद्धान नहीं करता।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 328)*

— 'देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान में तुच्छबुद्धियों को यह भासित हो कि अरहन्त देवादिक को मानना, और को नहीं मानना-इतना ही सम्यक्त्व है। वहाँ जीव-अजीव का व बन्ध-मोक्ष के कारण-कार्य का स्वरूप भासित न हो तो

हे भाई! आत्मा को भूलकर, भव में भटकते हुए अनन्त काल बीत गया, उसमें अति मूल्यवान यह मनुष्य अवतार और धर्म का ऐसा दुर्लभ योग तुझे प्राप्त हुआ है तो अब परमात्मा जैसा ही तेरा जो स्वभाव है, उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर! प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट कर!! शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर!!! और यदि इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का जरूर पालन कर!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि न हो।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 329)*

— 'तत्त्वश्रद्धान बिना अरहन्तादिक के छियालीस आदि गुण जानता है, वह पर्यायाश्रित गुण जानता है परन्तु भिन्न-भिन्न जीव-पुद्‌गल में जिस प्रकार सम्भव है, उस प्रकार यथार्थ नहीं पहिचानता; अत: अरहन्तादिक का सच्चा श्रद्धान नहीं होता।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 326)*

— 'इसको देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति हुई; इसलिए व्यवहारसम्यक्त्व हुआ मानता है, परन्तु उनका सच्चा स्वरूप भासित नहीं हुआ है; अत: प्रतीति भी सच्ची नहीं हुई है। सच्ची प्रतीति के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती; इसलिए मिथ्यादृष्टि ही है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 224)*

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

दिनाँक 26-1- 1997

महिमा आगम ज्ञान की.......

— वर्तमान में मनुष्यभव, उत्तम जैनकुल, दिगम्बरधर्म व सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का साक्षात् समागम मिलने पर भी, जो जीव वीतराग-विज्ञानता की प्राप्ति का उपाय नहीं करता, उसे पण्डित टोडरमलजी क्या कहते हैं ?

'जिस प्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे कोढ़ी को अमृतपान करायें और वह न करें; उसी प्रकार संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो नहीं हो सकती; उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है।

स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव, धर्म-वचनों को नहीं सुनते, वे धीठ हैं और उनका दुष्टचित्त है अथवा जिस संसारभय से तीर्थङ्करादि डरे, उस संसारभय से रहित हैं, वे बड़े सुभट हैं।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 20)*

'यह अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब, सर्व प्रकार से अवसर आया है — ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है; इसलिए श्री गुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्यजीवों को प्रवृत्ति करना।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 313)*

हे भाई! तू भावना तो स्वभाव की कर! स्वभाव की भावना करने के लिए पहले यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय कर। यदि वास्तव में परवस्तु ही तेरे राग का कारण हो, तब तो परवस्तु ही राग की खान हो गयी और ऐसा होने पर तो, परवस्तु त्रिकाल होने से राग भी तीनों काल हुआ ही करेगा। इसलिए अपना यह मिथ्या अभिप्राय छोड! राग, पर के कारण नहीं, किन्तु अपनी पर्याय के अपराध के कारण ही होता है - ऐसा समझ और ध्रुव चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करके, उस राग की बुद्धि भी छोड़ - यही तेरे कल्याण का मार्ग है।

यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवौ जिनवाणी।
इह विधि गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी॥

(छहढ़ाला, चौथी ढ़ाल)

— दुर्लभता से प्राप्त इस सत्समागम में मुझ आत्मा का परम कर्तव्य क्या है, जिसके फलस्वरूप जन्म-मरण का अभाव होकर, उत्तम अविनाशी मोक्षसुख की प्राप्ति हो ?

'इस जीव का तो मुख्य कर्तव्य आगमज्ञान है। उसके होने से तत्त्वों का श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) होता है, तत्त्वों का श्रद्धान होने से, संयमभाव (मुनिपना) होता है, और उस आगम से आत्मज्ञान (श्रेणी) की भी प्राप्ति होती है, तब सहज ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पुनश्च: धर्म के अनेक अङ्ग हैं, उनमें एक ध्यान बिना उससे ऊँचा और धर्म का अङ्ग नहीं है; इसलिए जिस-तिस प्रकार आगम-अभ्यास करना योग्य है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 20)*

— अब प्रश्न उठता है कि आगमज्ञान क्या है ?

आगमज्ञान, अर्थात् वस्तुस्वरूप – जोकि निम्न प्रकार है –

'अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 52)*

'जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं; प्रत्येक गुण में एक ही समय में एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण, ध्रौव्य रहता है — ऐसा प्रत्येक द्रव्य के गुण में हो चुका है, हो रहा है और होता रहेगा।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 93 का सार)*

'प्रत्येक द्रव्य – अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुण, अनन्त विशेषगुण, एक-एक व्यंजनपर्याय और अनन्त-अनन्त अर्थपर्याय सहित – अपनी-अपनी सत्ता में ही विराज रहा है। अपनी सत्ता से बाहर कोई भी द्रव्य न तो निकला है, न निकलता है और न ही निकल सकेगा।' *(श्री पंचाध्यायी का रहस्य)*

चेतन पुद्गल भिन्न हैं, यही तत्त्व संक्षेप।
अन्य कथन सब हैं, इसी के विस्तार विशेष॥50॥

(श्री इष्टोपदेश गाथा 50)

मङ्गल समर्पण

कुदेवादिक के सेवन से जो मिथ्यात्वभाव होता है, सो वह हिंसादिक पापों से बड़ा पाप है। इसके फल से निगोद, नरकादि पर्यायें पायी जाती हैं। वहाँ अनन्त कालपर्यन्त महा-सङ्कट पाया जाता है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति महा-दुर्लभ हो जाती है।

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

'प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर परिणमन करते हैं।.... वे सब पदार्थ, अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं - स्पर्श करते हैं, तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि वे सदा काल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते।' *(श्री समयसार, गाथा 3)*

तास ज्ञान को कारण स्व-पर विवेक बखानौ।
कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनौ॥ *(छहढ़ाला - चौथी ढ़ाल)*

— आगमज्ञान, अर्थात् वस्तुस्वरूप की जिनवाणी में इतनी महिमा क्यों गाई है ?

क्योंकि आगमज्ञान, अर्थात् वस्तुस्वरूप को स्वीकार करने से ही सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक की प्राप्ति होती है। आज तक जितने जीव, मोक्ष गये हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे- सब भेदविज्ञान, आगमज्ञान, अर्थात् वस्तुस्वरूप की स्वीकृति का परिणाम है।

— श्री प्रवचनसार, गाथा 232 से 244 में मोक्षमार्ग के अधिकार में प्रथम आगमज्ञान ही उपादेय बताया है क्योंकि आगमज्ञान से ही तत्त्वों का श्रद्धान, संयमभाव, श्रेणी व क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भेदविज्ञानतः सिद्धा-सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैयाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥131॥

'अर्थात्, जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; और जो कोई बँधे हैं, वे उसी के (भेदविज्ञान के) अभाव से ही बँधे हैं।'

(श्री समयसार, कलश 131 व श्लोकार्थ)

'जै पूरब शिव गये, जाहिं अरू आगे जै हैं।
ते सब महिमा ज्ञानतनी मुनिनाथ कहै हैं॥ *(छहढ़ाला-चौथी ढ़ाल)*

'प्रथम तो श्रमण, वास्तव में एकाग्रता को प्राप्त ही होता है; एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान् के ही होती है और पदार्थों का निश्चय, आगम द्वारा ही होता है; इसलिए आगम में ही व्यापार प्रधानतर (विशेष प्रधान) हैं; दूसरी गति (अन्य कोई मार्ग) नहीं है।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 232 की टीका)*

'आगम की पुर्यपासना से रहित जगत को आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव न

भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है कि प्रत्येक द्रव्य, गुण तथा विकारी-अविकारी पर्यायें - ये सभी स्वतन्त्र हैं। ऐसी स्वतन्त्रता को समझने से निर्विकारी द्रव्य-गुण के आश्रय से पर्याय का विकार मिटकर, निर्मलानन्दी मुक्तदशा हुए बिना नहीं रहती। इसी विधि से भगवान ने मुक्ति प्राप्त की है और यही मोक्ष का मार्ग उन्होंने जगत को बतलाया है। उनकी वाणी में कथित इस मार्ग को समझकर जगत के जीव, मोक्ष प्राप्त न करें - ऐसा नहीं हो सकता। जो समझा है, वह मोक्ष प्राप्त करता है... नहीं समझनेवाले की बात नहीं है... समझे उसकी बलिहारी है...।

मङ्गल समर्पण

होने से 'यह जो अमूर्तिक आत्मा है, सो मैं हूँ' और ये समानक्षेत्रावगाही शरीरादिक, वह पर हैं, इसी प्रकार 'ये जो उपयोग है, सो मैं हूँ और ये उपयोगमिश्रित, मोह-राग-द्वेषादिक भाव हैं, सो पर हैं' इस प्रकार स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता तथा उसे आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव न होने से 'मैं ज्ञानस्वभावी एक परमात्मा हूँ' — ऐसा परमात्मज्ञान भी नहीं होता।'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 233 का भावार्थ)

'यदि आगम से पदार्थों का श्रद्धान न हो तो सिद्धि, अर्थात् मुक्ति नहीं होती।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 237 का भावार्थ)*

'सभी अरहन्त भगवान उसी विधि से (आगम ज्ञान से) ही कर्मांशों का क्षय करके तथा उसी प्रकार से उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 82)

'जिन, जिनेन्द्र और श्रमण इस प्रकार (आगमज्ञान से) ही मार्ग में आरूढ़ होते हुए सिद्ध हुए, नमस्कार हो उन्हें और उस निर्वाणमार्ग को।'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 199)

'जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा श्रद्धान-ज्ञान हो जाये तो सर्व दुःख दूर हो जाएँ।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 52)*

वस्तु विचारत ध्यावते मन पावे विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजे अनुभव याकौ नाम॥
अनुभव चिन्तामणि रत्न अनुभव है रस कूप।
अनुभव मारग मोक्ष को अनुभव मोक्ष स्वरूप॥

— आगमज्ञान किये बिना, व्रतादि शुभभाव व शरीरादि की क्रियारूप प्रवर्ते तो भी धर्म का, अर्थात् मोक्ष का अधिकारी नहीं है।

'देखो, तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचाररहित देवादि की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादि पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व का अधिकार नहीं; और तत्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 260)*

इस प्रकार इस जीव का तो मुख्य कर्तव्य आगमज्ञान है क्योंकि आगमज्ञान से ही सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक की प्राप्ति होती है। आगमज्ञान क्या है? वस्तुस्वरूप। वस्तुस्वरूप में छहों द्रव्यों की भिन्नता के साथ-साथ मुख्यरूप से

जिनधर्म में यह तो आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दुःख समुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो; निन्दा-प्रशंसादिक के विचार से शिथिल होना योग्य नहीं है।

– आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल

आत्मा और शरीर की भिन्नता का उपदेश है क्योंकि अनादि काल से जो भी पर्याय प्राप्त करता है, उसी में अज्ञान के कारण अपनापना मानता है; फलस्वरूप चारों गतियों में परिभ्रमण बना ही रहता है। अत: जिनवाणी में शरीर को अपना न मानने का उपदेश दिया जाता है क्योंकि जीव और शरीर- दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, एक ने दूसरे को सर्वथा स्पर्श भी नहीं किया है।

— अब प्रश्न उठता है कि शरीर और आत्मा किस प्रकार भिन्न हैं ?

आत्मा, चेतन है; शरीर, जड़ है, आत्मा, अमूर्तिक है; शरीर, मूर्तिक है, आदि अनेक भिन्न-भिन्न लक्षणों से जिनवाणी में आत्मा और शरीर की पृथकता का ज्ञान कराया है।

'मुझ आत्मा तो देखने-जाननेरूप चेतनागुण का धारक है, इन्द्रियगम्य न होने योग्य अमूर्तिक है, संकोच-विस्तार शक्तिसहित असंख्यातप्रदेशी एक द्रव्य है। कैलाशचन्द्र शरीर और कर्म, चेतनागुणरहित जड़ हैं, मूर्तिक हैं, अनन्त पुद्‌गल परमाणुओं का पिण्ड है; इसलिए एक द्रव्य नहीं, अनन्त द्रव्य हैं। मुझ आत्मा, कैलाशचन्द शरीर व कर्म का अनादि सम्बन्ध है तो भी मुझ जीव का कोई प्रदेश, कैलाशचन्द्र शरीररूप व कर्मरूप नहीं होता; कैलाशचन्द्र व कर्म का कोई परमाणु, मुझ जीवरूप नहीं होता, अपने-अपने लक्षण को धारण किये भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। मुझ आत्मा, कैलाशचन्द्र और कर्म के इस बंधान में कोई किसी को करता तो है नहीं, जब तक बन्धान रहे तब तक साथ रहें, कारण-कार्यपना, अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध इनके बना रहे, इतना ही यहाँ बन्धान जानना।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 23)

'अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन वस्तु आप है। मूर्तिक पुद्‌गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित (स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण सहित), नवीन जिनका संयोग हुआ है, ऐसे (कैलाशचन्द्र) शरीरादि पुद्‌गल पर हैं।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 38)*

'व्यवहार से नर-नारकादि ही को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्‌गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसी को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा - सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से शरीरादिक, जीव होते नहीं - ऐसा ही श्रद्धान करना।'

जिस प्रकार छह माह के छोटे बालक को पैसा क्या चीज है ? - इसका पता नहीं है, उसे तो मात्र माता का दूध प्रिय है; इसलिए उसे लक्ष्मी के प्रति प्रेम कैसे आयेगा ? उसी प्रकार जिसने आत्मा के वीतराग-स्वभाव को नहीं पहिचाना है, वीतराग भगवान को नहीं पहिचाना है, उसे वीतराग भगवान के प्रति वास्तविक प्रेम नहीं आता। जिसे वीतरागता का भान है, वह तो वीतराग भगवान को देखते ही भक्ति से उल्लिसित हो जाता है।

मङ्गल समर्पण

धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभभाव से ऊँचा पुण्य बँधता है परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता को साधने पर है। जो जीव, सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उसमें अटका रहे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता। कोई जीव, धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद आता है क्योंकि उसे स्वयं को आराधना का तीव्र प्रेम है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

और

'निश्चय से (मुझ) आत्मा, (कैलाशचन्द्र शरीरादि) परद्रव्यों से (सर्वथा) भिन्न, (ज्ञान-दर्शनादि) स्वभावों से अभिन्न, स्वयंसिद्ध वस्तु है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 252)*

सर्वज्ञ ज्ञान विषै सदा उपयोग लक्षण जीव है।
वो कैसे पुद्गल हो सके जो तू कहे मेरा उसे॥ *(श्री समयसार, गाथा 24)*

चेतन को है उपयोग रूप, बिन्मूरत, चिन्मूरत अनूप।
पुद्गल-नभ-धर्म-अधर्म-काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल॥

चिन्मूरत, अर्थात् चैतन्य अरूपी असंख्यात प्रदेशी मेरा एक आकार है। जड़-रूपी एक-एक प्रदेशी पुद्गल के अनन्त आकारों से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। *(छहढ़ाला - दूसरी ढ़ाल)*

'मानों ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों, इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान यह धर्म, अधर्म आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव - ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावत्व से परमार्थतः अन्तरङ्ग तत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य, मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से, परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने के लिये असमर्थ हैं (क्योंकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते।)' *(श्री समयसार, गाथा 37 की टीका)*

इस प्रकार मुझ आत्मा और शरीर, सर्वथा भिन्न हैं तो भी अपनी पहचान न होने के कारण शरीर है, सो मैं ही हूँ, मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसी विपरीत मान्यता के कारण, संसार में परिभ्रमण का अभाव नहीं होता और चारों गतियों में घूमता हुआ जीव, निगोद में चला जाता है।

— इस प्रकार अनादि-काल से मुझ आत्मा शरीरादि परद्रव्यों को अपना माननेरूप मोह के कारण, इस संसार में जन्म-मरण के दुःखों को भोग रहा है। मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण, सत्य का समागम बनने पर भी उसका विश्वास नहीं करता और चारों गतियों में घूमकर निगोद में पहुँच जाता है। प्रथम तो जीव को यह निर्णय करना है कि मैं दुःखी हूँ; पर के कारण नहीं, शरीरादि परद्रव्यों को अपना माननेरूप मोह के कारण मैं दुःखी हूँ। यही विश्वास आचार्य भगवान भी सर्व प्रथम कराना चाहते हैं —

'इस लोक में समस्त जीव, संसाररूपी चक्र पर चढ़कर, पञ्च

परावर्तनरूप भ्रमण करते हैं। वहाँ उन्हें मोहकर्मोदयरूपी पिशाच के द्वारा जोता जाता है; इसलिए वे विषयों की तृष्णारूपी दाह से पीड़ित होते हैं और उस दाह का इलाज, रूपादि विषयों को जानकर उनकी ओर दौड़ते हैं और अनन्त दुःख सहन करते हैं।'
(श्री समयसार, गाथा 4 का भावार्थ)

'इस संसार अटवी में समस्त जीव हैं, वे कर्म-निमित्त से उत्पन्न जो नाना प्रकार के दुःख, उनसे पीड़ित हो रहे हैं; तथा वहाँ मिथ्या-अन्धकार व्याप्त हो रहा है, उस कारण वहाँ से मुक्त होने का मार्ग नहीं पाते, तड़प-तड़पकर वहाँ ही दुःख को सहते हैं।'
(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 18)

— ऐसे समय में जब जीव, संसार के दुःखों से पीड़ित हो रहा है, जीवों का भला होने के कारणभूत तीर्थङ्कर केवली भगवानरूपी सूर्य का उदय हुआ; उनकी दिव्यध्वनिरूपी किरणों से, वहाँ से, संसार से मुक्त होने का मार्ग प्रकाशित हुआ। केवली, वीतराग हैं; अतः उनके ऐसी इच्छा नहीं है कि हम मोक्षमार्ग प्रगट करें, परन्तु सहज ही उनका शरीररूप पुद्गल, दिव्यध्वनिरूप परिणमित होता है, उसके द्वारा मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता है।

'जिनका शरीर परम औदारिक है, जिनके ज्ञान आनन्दादि शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो गई हैं, ऐसे त्रिलोकीनाथ जिनेश्वर देव परमात्मा के शरीर से वाणी भी परम अमृत समान निकलती है। प्रभु का आत्मा, परमात्मा स्वरूप में प्रगट हो गया है। उनका ऐसा आत्मा, उनकी वाणी के कारण नहीं है, परन्तु अपने स्वरूप के कारण है। स्वरूप ऐसा प्रगट हुआ, इसलिए वाणी ऐसी है — ऐसा भी नहीं है। स्वरूप, स्वरूप के कारण और वाणी, वाणी के कारण निकलती है।'
(पूज्य गुरुदेव के वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ - 41-42)

— केवली भगवान की दिव्यध्वनि में क्या आता है, जिसके श्रद्धान-ज्ञान से जीव, संसार के दुखों से छूटकर, उत्तम अविनाशी मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है—

1- सामान्य में से विशेष आता है। द्रव्य-गुण को सामान्य और पर्याय को विशेष कहते हैं। पर्याय अपने द्रव्य-गुण में से ही आती है; परद्रव्य-गुण में से नहीं — यदि ऐसा श्रद्धान-ज्ञान हो जाये तो पर में कर्ता-भोक्ताबुद्धि का अभाव हो और जीव, सुखी हो।

'वस्तु समान्य-विशेषरूप है। जैसे वस्तु का सामान्य अंश स्वतः है; परतः

हे नाथ! आपके जैसी पूर्ण दशा मुझ में प्रगट नहीं है परन्तु हे प्रभु! जितना सामर्थ्य आप में है, उतना ही परिपूर्ण सामर्थ्य मुझ में भरा है। आपके समान मेरे स्वभाव में एकाग्र होने पर, मेरा राग मिटकर सुख मिलेगा... इस प्रकार मैं भी पूर्ण परमात्मा हो जाऊँगा - इसका नाम भगवान की भक्ति है। जिसे ऐसा भान नहीं है, वह वास्तव में भगवान के गीत अथवा भगवान की स्तुति नहीं करता; वह तो मात्र राग और पुण्य के गीत गाता है।

नहीं है, वैसे वस्तु का विशेष अंश भी स्वतः है, परतः नहीं है। .....निर्विशेष सामान्य तो खरगोश के सींग जैसा (अभावरूप) है। बिना विशेष के सामान्य हो ही नहीं सकता।' *(वस्तुविज्ञानसार, पृष्ठ 94-95)*

'वस्तु तो उर्ध्वतासामान्यरूप द्रव्य में, सहभावीविशेषरूप गुणों में तथा क्रमभावीविशेषस्वरूप पर्यायों में रही हुई और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्व से बनी हुई है; इसलिए वस्तु, परिणामस्वभाववाली ही है।'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 10 की टीका)

2— जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है, वे अजीवतत्त्व हैं; वे सब जानने योग्य हैं। मुझ आत्मा से उनका सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जीव-अजीव का भेदज्ञान हो तो दुःख का अभाव और सुख की प्राप्ति हो।

'सम्यग्दृष्टि दर्शक, जीव-अजीव के भिन्न स्वरूप को जानता है, वह तो इन सब स्वांगों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि, जीव-अजीव के भेद को नहीं जानते; इसलिए वे इन स्वांगों को ही यथार्थ जानकर उनमें लीन हो जाते हैं।' *(श्री समयसार, पृष्ठ 79)*

3— 'तास ज्ञान को कारण स्व-पर विवेक बखानौ, कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उन आनो' — अर्थात्, स्व-पर का भेदज्ञान ही दुःख दूर होने का एकमात्र उपाय है। जब तक अपनी पहचान ही न हो कि मैं कौन हूँ? मैं आत्मा हूँ और शरीरादि पर है, तब तक धर्म का प्रारम्भ हो ही नहीं सकता; अतः स्व-पर का भेदज्ञान ही धर्म का भूल है —ऐसा भगवान की दिव्यध्वनि में आया है।

'प्रथम तो दुःख दूर करने में आपा-पर का ज्ञान अवश्य होना चाहिए (क्योंकि) यदि आपा-पर का ज्ञान नहीं हो तो अपने को पहिचाने बिना अपना दुःख कैसे दूर करें? अथवा आपा-पर को एक जानकर, अपना दुःख दूर करने के अर्थ, पर का उपचार करे तो अपना दुःख कैसे दूर हो? अथवा अपने से पर भिन्न है परन्तु यह पर में अहंकार- ममकार करे तो उससे दुःखी ही होता है। आपा-पर का ज्ञान होने पर ही दुःख दूर होता है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ- 78)*

'जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं। वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर ही होता है।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 273)

मङ्गल समर्पण

१. जिसमें मेरा ज्ञानदर्शन हो, वह जीवतत्त्व है।
२. जिनमें मेरा ज्ञानदर्शन नहीं हैं, वे अजीवतत्त्व हैं।
३. शुभाशुभ विकारीभावों का उत्पन्न होना, आस्रवतत्त्व है।
४. शुभाशुभ विकारीभावों में अटकना, बन्धतत्त्व है।
५. शुद्धि का प्रगट होना, संवरतत्त्व है।
६. शुद्धि की वृद्धि होना, निर्जरातत्त्व है।
७. सम्पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना, मोक्षतत्त्व है।

– पण्डित कैलाशचन्द जैन

'जीव पदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि है। वहाँ स्व-पर के यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। तथा जिस काल किसी जीव के स्व-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्वार्थश्रद्धान हो, तभी जीव सम्यक्त्वी होता है। अतः स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 341)

'आगमहीन श्रमण, आत्मा को, अर्थात् स्व को और पर को नहीं जानता; पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु, कर्मों को किस प्रकार क्षय करे ?'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 233 का अर्थ)

'एकमात्र प्रभु ज्ञायक, ध्रुव, पूर्ण अस्तिवान तत्त्व, पूर्ण सत्तावान, पूर्ण विद्यमानता युक्त ज्ञायक तत्त्व, सो मैं हूँ, और यह पर-राग से लेकर शरीरादि सब पर हैं। एक ओर राम-प्रभु ज्ञायक, एक और ग्राम-राग से लेकर सब पर। राग, शरीर, इन्द्रियाँ और उनके विषय, अनन्त सिद्ध और अनन्त निगोद सब पर हैं और अन्तर में जाननेवाला ज्ञायक भगवान आत्मा, वह स्व है।'

(पूज्य गुरुदेव के वचनामृत प्रवचन, पृष्ठ 34)

उपरोक्त आगमज्ञान को प्रकाशित करती हुई दिव्यध्वनि को जो हृदयंगम करता है, वह नियम से संसार का नाश करके पञ्चम गति मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

— आचार्य कहते हैं कि साक्षात् सद्गुरु का योग बनने पर भी, जो अपनी पहचान नहीं करते, स्व-पर का भेदज्ञान नहीं करते, उनके अभाग्य की महिमा हम क्या कहें ?

'अब, अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब, सर्व प्रकार से अवसर आया है। — ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है। इसलिए श्री गुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। उसमें भव्य जीवों को प्रवृत्ति करना।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ- 313)*

अतः सावधान! सावधान! यह अवसर चूकना योग्य नहीं हैं। श्री गुरु दयालु होकर आत्मा और शरीर की भिन्नता बता रहे हैं। स्व-पर का भेदविज्ञान करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करना ही इस अमूल्य मनुष्य जीवन का परम कर्तव्य है।

अहो! जिस क्षण आत्मा में भगवानपना प्रगट हो, उस घड़ी और उस पल को धन्य है। ऐसी भावना किसे जगती है? जिसे अन्तर में भगवान के समान अपना स्वभाव भासित हुआ हो, उसे ऐसी भावना होती है और वह अल्प काल में भगवान हुए बिना नहीं रहेगा।

दिनाँक 28-1- 1997

संसार के अभाव का एकमात्र उपाय : स्व-पर का भेदज्ञान

अनादि काल से मैं अज्ञानी जीव, शरीर को अपना मानने के कारण, संसार में जन्म-मरण के दु:ख भोग रहा हूँ। मैं कैलाशचन्द्र हूँ, यह मेरी पत्नि है, ये मेरे बच्चे हैं, यह मेरा घर है, यह मेरी गाड़ी, जेवर, रूपया पैसा है, इस प्रकार शरीर को अपना मानने के कारण, सारी दुनिया को अपनी मान-मानकर, किसी को अच्छा व किसी को बुरा जानता हूँ। जिसको अच्छा माना, उसे मिलाने में, और जिसको बुरा जाना, उसे हटाने में महान दुर्लभता से प्राप्त यह मनुष्य पर्याय रोते-पीटते समाप्त हो जाती है और खाली हाथ विदाई हो जाती है। प्रवचनसार में कहा है कि—

'जो जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्याय का जोकि सकल अविद्याओं का एक मूल है उसका - आश्रय करते हुए, यथोक्त आत्मस्वभाव की सम्भावना करने में नपुंसक होने से, उसी में बल धारण करते हैं, अर्थात् उन असमानजातीय द्रव्यपर्यायों के प्रति ही बलवान हैं, वास्तव में परसमय हैं।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 94 की टीका)*

— किसी परपदार्थ को हटाना या मिलाना जीव के अधिकार क्षेत्र में है ही नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य कायम रहता हुआ निरन्तर बदलता ही रहता है।

'कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है, सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं; यह वृथा ही कषायभाव से आकुलित होता है।' और

'लोक में सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के ही कर्ता हैं, कोई किसी को सुख-दुखदायक, उपकारी-अनुपकारी है नहीं।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 88-89)*

'परवस्तु कहीं संसार का कारण नहीं है। मुझ आत्मा के अलावा इस विश्व में जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं। इन सब परद्रव्यों में अपनेपने की मान्यता ही संसार है। इस विपरीत मान्यतारूप अध्यवसान को ही छोड़ने का जिनवाणी में उपदेश है। परवस्तुएँ तो भिन्न हैं ही; उनमें एकत्वबुद्धिरूप अपना विपरीत अभिप्राय ही छोड़ना है।'

मङ्गल समर्पण

- मैं, ज्ञानदर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ।
- मेरा कार्य, ज्ञाता-दृष्टा है।
- आँख-नाक-नाक औदारिक आदि शरीरोंरूप मेरी मूर्ति नहीं है।
- चैतन्य अरूपी असंख्यात प्रदेशी मेरा एक आकार है।
- सर्वज्ञस्वभावी ज्ञानपदार्थ होने से मुझ आत्मा ही अनुपम है।

-पण्डित कैलाशचन्द्र जैन

'अपने आत्मा के सिवाय, विश्व की अनन्त परवस्तुओं में जो एकत्व-बुद्धिरूप अध्यवसान होता है, वह सब सर्वज्ञदेव ने त्यागने योग्य कहा है। परवस्तु में, चाहे वह शरीरादिरूप हो, स्त्री-पुत्र-परिवार आदि हों, देव-गुरु-शास्त्र हों; 'ये सब मेरे हैं और मैं इनका हूँ' — ऐसी एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसान को जिनेश्वरदेव ने छोड़ने योग्य कहा है। एक ओर स्वयं शुद्ध ज्ञायकभावमात्र वस्तु 'स्व' और दूसरी ओर विश्व की समस्त वस्तुएँ 'पर' हैं। जगत की ये सर्व वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं। उनमें एकत्वबुद्धि का जो अध्यवसान है, वह सब छोड़ने योग्य है।'

(श्री प्रवचन रत्नाकर, भाग 8 पृष्ठ 183)

—अनन्त परवस्तुओं में - 'यह मैं' - इस एकत्वबुद्धिरूप अध्यवसान का फल, चारों गतियों में परिभ्रमण है। अत: स्व-पर का भेदज्ञान करके इस अध्यवसान को शीघ्र छोड़ना चाहिए।

'समस्त पदार्थों में अपनेपन का अध्यवसान करना तथा ऐसा मानना कि — ये सब मेरे हैं व इनसे मुझे लाभ या हानि होती है, मैं इनका या ये मेरा भला-बुरा कर सकते हैं - यह मिथ्या अध्यवसाय चार गति में भटकने के बीजरूप हैं; अत: छोड़ने योग्य हैं।' *(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-8 पृष्ठ 183)*

— चार गतियों में भटकने के बीजरूप मिथ्या अध्यवसान को छोड़ने का उपाय क्या है ?

एक तरफ मुझ आत्मा, दूसरी तरफ सारा विश्व - मुझ आत्मा का इस विश्व से किसी भी अपेक्षा, किसी भी प्रकार का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है - ऐसा श्रद्धान-ज्ञान हो तो मिथ्या अध्यवसाय का अभाव हो जाता है।

'मैं आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्गल नहीं हूँ, आत्मान्तर नहीं हूँ; क्योंकि मकान के एक कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाशों की भाँति, यह द्रव्य इकट्ठे होकर रहते हुए भी मेरा चैतन्य, निजस्वरूप से अच्युत ही रहता हुआ, मुझे पृथक बतलाता है। इस प्रकार जिसने स्व-पर का विवेक निश्चित किया है — ऐसे इस आत्मा को विकारकारी मोहांकुर का प्रार्दुभाव नहीं होता।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 90 की टीका)*

परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है,
आपरूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है।
आपरूप में लीन रहे थिर सम्यकचारित्र सोई॥

भगवान का सच्चा भक्त होने के लिए प्रथम तो आत्मा की स्थिरता में न्यूनाधिक भले ही हो परन्तु जैसा परिपूर्ण आत्मस्वभाव है और उसका जो मार्ग है, वैसा ही श्रद्धा में तो लेना चाहिए... सम्यक्श्रद्धा करना भी सत्य का मार्ग है... उस श्रद्धा से भी धर्मीपना टिका रहेगा परन्तु जो विपरीत श्रद्धा करेगा, उसका तो मनुष्यभव व्यर्थ चला जाएगा।

मङ्गल समर्पण

अहा! आनन्द से विलसित हो रहे इस चैतन्यतत्त्व को देखते ही परद्रव्यों के प्रति तेरा मोह छूट जाएगा; परद्रव्य मेरा है - ऐसी तेरी मोहबुद्धि छूट जाएगी और तुझे चैतन्यतत्त्व, परद्रव्यों से पृथक् विलसित होता हुआ, शोभित होता हुआ दिखाई देगा। भगवान ने जैसा उपयोगस्वरूप आत्मा देखा है, वैसा ही आत्मा तेरे अन्तर में विलस रहा है, वह तुझे देह से भिन्न अनुभव में आयेगा और उसे देखकर तू आनन्दित होगा।

- **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी**

अर्थात्, आत्मा में परवस्तुओं से भिन्नत्व की श्रद्धा करना, वह निश्चय-सम्यग्दर्शन है; आत्मा के स्वरूप को परद्रव्यों से भिन्न जानना, वह निश्चय-सम्यग्ज्ञान है; परद्रव्यों से भिन्न ऐसे आत्मास्वरूप में स्थिरतापूर्वक लीन होना, वह निश्चयसम्यक्चारित्र है।' *(छहढ़ाला, तीसरी ढ़ाल की 2 गाथा)*

'स्पर्शादि, ज्ञान नहीं हैं क्योंकि स्पर्शादि (पुद्गलद्रव्य का गुण) अचेतन हैं; इसलिए ज्ञान के और स्पर्श के व्यतिरेक (भिन्नत्व) है। इस प्रकार ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक निश्चय साधित देखना चाहिए। अब, जीव ही एक ज्ञान है- क्योंकि जीव, चेतन हैं; इसलिए ज्ञान के और जीव के अव्यतिरेक (अभिन्नपना) है। इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा - अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे....... परसमय को दूर करके, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके, साक्षात् समयसारभूत निजात्मस्वभाव को प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से देखना चाहिए।' *(श्री समयसार, गाथा 390 से 404 की टीकांश)*

उपरोक्त रीति से स्व-पर का भेदज्ञान ही संसारपरिभ्रमणरूप मिथ्या अध्यवसाय के अभाव का एकमात्र उपाय है। तथापि —

— मिथ्यादर्शन के कारण यह जीव जैसा है, वैसा तो नहीं मानता और जैसा नहीं है, वैसा मानता है।

अब, प्रश्न यह उठता है कि स्वयं कैसा है, अर्थात् मैं कौन हूँ और स्वयं कैसा नहीं है, अर्थात् मैं कौन नहीं हूँ?

मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड, ज्ञायक भगवान आत्मा हूँ। जिसमें ज्ञान-दर्शन नहीं है — ऐसा जड़, अनन्त पुद्गल परमाणुओं की स्कन्धरूप पर्याय, यह कैलाशचन्द्र नामरूप शरीर मैं नहीं हूँ।

'अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन वस्तु स्व है और मूर्तिक पुद्गल द्रव्यों का पिण्ड, ऐसे (कैलाशचन्द्र) शरीरादि पुद्गल पर हैं।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 38)*

'निश्चय से मुझ आत्मा (कैलाशचन्द्रशरीरादि) परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, (ज्ञान-दर्शनादि) स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध वस्तु है। (उसे जो नहीं पहिचानते, उन्हें कैलाशचन्द्र शरीरसहित जीव की पहचान कराई।) व्यवहार से

कैलाशचन्द्र नर-नारकादि पर्याय को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उस ही को जीव मानना! जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं —ऐसा ही श्रद्धान करना।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 252)*

'जीव का चैतन्य और शरीर का मूर्तत्वादि विशेषों से श्रद्धान करना प्रयोजनभूत हैं।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 79)*

अर्थ — मैं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ, मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है। **बिन्मूरत** — आँख-नाक-कान औदारिक आदि शरीरोंरूप मेरी मूर्ति नहीं है। **चिन्मूरत** — चैतन्य अरूपी असंख्यात प्रदेशी मेरा एक आकार है। **अनूप** — सर्वज्ञस्वभावी ज्ञानपदार्थ होने से मुझ आत्मा ही अनुपम है। **पुद्गल, नभ-धर्म-अधर्म-काल इनतैं न्यारी है जीव चाल** — मुझ आत्मा के अलावा, अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक, कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं — इन सबसे मुझ जीव का कोई सम्बन्ध नहीं है।'

(छहढ़ाला, दूसरी ढ़ाल)

— उपरोक्त प्रकार स्वयं चैतन्य है और शरीर, जड़ है लेकिन मिथ्यादर्शन के कारण जैसा है, अर्थात् स्वयं को जीव नहीं मानता और शरीर, स्वयं नहीं है, वही अपने को मानता है। अर्थात्, स्व और पर के संयोगरूप मनुष्यादि पर्यायों में ही अहंपना करता है, अर्थात् मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा ही मानता है।

'स्व-पर के संयोगरूप नाना प्रकार की मनुष्यादि पर्यायें होती हैं - उन पर्यायों में अहंबुद्धि धारण करता है; स्व-पर का भेद नहीं कर सकता। जो पर्याय प्राप्त करें, उस ही को आपरूप मानता है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 38)*

'मिथ्यादर्शनादिक से जीव को स्व-पर का विवेक नहीं हो सकता। स्वयं एक आत्मा और अनन्त पुद्गल परमाणुमय शरीर; इनके संयोगरूप मनुष्यादि पर्याय उत्पन्न होती है। उसी पर्याय को स्व मानता है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 46)*

'जीव, नवीन शरीर धारण करता है, कुछ काल तक धारण किये रहता है, फिर उसको छोड़कर अन्य शरीर धारण करता है। इसलिए शरीर सम्बन्ध की अपेक्षा जन्मादिक हैं। जीव, जन्मादिक रहित नित्य ही है, तथापि मोही जीव को अतीत-अनागत का विचार नहीं है; इसलिए प्राप्त पर्यायमात्र ही अपनी स्थिति मानकर, पर्याय सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर रहता है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 43)*

देखो! एक और स्वद्रव्य, दूसरी ओर परद्रव्य; उसमें स्वद्रव्याश्रित परिणमन, मोक्ष का कारण है और परद्रव्याश्रित परिणमन, संसार का कारण है। जगत में स्वद्रव्य तथा परद्रव्य, एक साथ हैं किन्तु वे भिन्न-भिन्न हैं। चैतन्यस्वरूप आत्मा एक ही स्वद्रव्य है और उसके अतिरिक्त शरीरादि सब परद्रव्य हैं। पर से भिन्न चैतन्यस्वरूप स्वद्रव्य में ही अहंबुद्धि, अर्थात् 'यही मैं हूँ' - ऐसी मान्यता, वह यथार्थ श्रद्धा है।

‘अनादिकाल से जीव है, वह कर्म के निमित्त से अनेक पर्यायें धारण करता है। वहाँ पूर्व पर्याय को छोड़ता है, नवीन पर्याय धारण करता है। तथा वह पर्याय, एक तो स्वयं आत्मा और अनन्त पुद्गल परमाणुमय शरीर, उनसे एक पिण्ड बन्धानरूप है, तथा जीव को उस पर्याय में ‘यह मैं हूँ’ — ऐसी अंहबुद्धि होती है।’ *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 80)*

‘प्रथम तो इस जीव को पर्याय में अहंबुद्धि है, सो अपने को और शरीर को एक जानकर प्रवर्तता है।’ *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 91)*

चेतन को है उपयोगरूप, बिन्मूरत चिन्मूरत अनूप,
पुद्गल नभ धर्म-अधर्म-काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताको न जान विपरीतमान, करि, करै देह में निज पिछान॥

जीव, त्रिकाल ज्ञानस्वरूप तथा पुद्गलादि द्रव्यों से पृथक हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव, आत्मा के स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा न करके, अज्ञानवश विपरीत मानकर, शरीर ही मैं हूँ, शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ, मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था रख सकता हूँ — ऐसा मानकर, शरीर को ही अपना मानता है।’

— महानभाग्य से मनुष्यभव, जैनकुल, दिगम्बरधर्म, सच्चे-देव-गुरु-शास्त्र और पूज्य गुरुदेव का साक्षात् समागम मिला, उन्होंने जीव और शरीर की भिन्नता का बोध कराया, लेकिन उल्टा ही मानकर, शरीर से भिन्न निजात्मा की पहचान नहीं करता और शरीर को ही अपना मानता है।

‘तथा मनुष्यादि पर्यायों में कदाचित् देवादिक का या तत्त्वों का अन्यथा स्वरूप जो कल्पित किया, उसकी तो प्रतीति करता है परन्तु यथार्थ स्वरूप जैसा है, वैसी प्रतीति नहीं करता।’ *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 38)*

‘तथा मनुष्यादि पर्यायों में कदाचित् सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र का भी निमित्त बन जाये तो वहाँ उनके निश्चय उपदेश का तो श्रद्धान नहीं करता; व्यवहारश्रद्धान से अतत्त्वश्रद्धानी ही रहता है।’ *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 52)*

‘तथा अपने को और शरीर को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बहुत हैं; इसलिये भिन्नता भासित नहीं होती और जिस विचार द्वारा भिन्नता भासित हो, वह मिथ्यादर्शन के जोर से हो नहीं सकता; इसलिये पर्याय में ही अहंबुद्धि पायी जाती है।’ *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 82)*

‘तथा किसी प्रसङ्गवश भेदविज्ञान को कारणभूत व वीतरागदशा होने को

मङ्गल समर्पण

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है ? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन-विहार करने के लिए पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ - ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से, आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है - यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

कारणभूत जीव-अजीव की भिन्नता का जानना हो जाये तो शास्त्रानुसार जान तो लेता है परन्तु अपने को आपरूप जानकर, अपना अंश भी पर में न मिलाना और पर का अंश भी अपने में न मिलाना- ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 225)

'आपा-पर के भिन्नपने की बातें करें, चिन्तवन करे, परन्तु जैसे पर्याय में अहंबुद्धि है और वस्त्रादि में परबुद्धि है, वैसे आत्मा में अहंबुद्धि और शरीरादि में परबुद्धि नहीं होती।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 328)

— यदि स्व-पर की, अर्थात् जीव-अजीव की भिन्नता पहचानकर, जैसा है वैसा माने तो सम्पूर्ण दुःख का अभाव होकर, सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति हो जाती है।

'आपा-पर का ज्ञान होने पर ही दुःख दूर होता है। आपा-पर का ज्ञान, जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है, क्योंकि आप स्वयं जीव है, शरीरादि अजीव हैं। यदि लक्षणादि द्वारा जीव-अजीव की पहिचान हो तो अपनी और पर की भिन्नता भासित हो; इसलिए जीव-अजीव को जानना। अथवा जीव-अजीव का ज्ञान होने पर, जिन पदार्थों के अन्यथा श्रद्धान से दुःख होता था, उनका यथार्थ ज्ञान होने से दुःख दूर होता है; इसलिए जीव-अजीव को जानना।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 78)

'तत्त्वार्थश्रद्धान करने का अभिप्राय केवल उनका निश्चय करना मात्र ही नहीं है, वहाँ अभिप्राय ऐसा है कि जीव-अजीव को पहचानकर, जैसा का तैसा माने। इससे उलटे अभिप्राय का नाम विपरीताभिनिवेश है।

विपरीताभिनिवेश से रहित, जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान, सदाकाल करना योग्य है। यह श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है। चतुर्थादि गुणस्थान में प्रगट होता है, पश्चात सिद्ध अवस्था में भी सदा काल इसका सद्भाव रहता है- ऐसा जानना।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 318)

जैसा स्वयं है, वैसा अपने को मानना और जैसा स्वयं नहीं है, वैसा अपने को न मानना ही संसार परिभ्रमण के अभाव का एकमात्र उपाय है। भव्यजीव को शीघ्र ही इसमें प्रवृत्ति करना योग्य है।

अहो! यह जैनशासन की परम महिमा है कि वह प्रत्येक आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा परिपूर्ण स्वभाव बतलाता है और परद्रव्यों तथा परभावों में से अहंबुद्धि छुड़ाता है। आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव है; परद्रव्य में इष्ट-अनिष्टपना करने का उसका स्वभाव नहीं है - ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करने से ही सच्ची समता होती है।

दिनाँक 29-1- 1997

सर्व सम्बन्धविहीन अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप

— सम्बन्ध तीन प्रकार का है -

1- तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध :— मुझ आत्मा का, ज्ञान-दर्शनादि के साथ।

2- संयोगसिद्धसम्बन्ध :— मुझ आत्मा का, शुभाशुभ-विकारीभावों के साथ।

3- परस्पर अवगाहसिद्धसम्बन्ध :— मुझ आत्मा का, आठ कर्मों के साथ।

इसके अतिरिक्त कैलाशचन्द्र नामरूप शरीर से, पत्नि, बच्चौं, घर, मकान, रुपया-पैसा, गाड़ी, कपड़े, जेवर आदि से तो किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

— अपनी गलती क्या है, जिसके कारण अनादि काल से चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण हो रहा है ?

जिनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है — ऐसे कैलाशचन्द्ररूप शरीरादि परद्रव्यों को ही अपना माना है। मैं कैलाशचन्द्र हूँ, मैं उठता-बैठता, खाता-पीता हूँ; ज्ञेय से ज्ञान होता है; पाँच इन्द्रियों के विषयों से सुख होता है — इस प्रकार विपरीतमान्यता के कारण चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है।

— वर्तमान में सच्चे-देव-गुरु-शास्त्र का योग बना, उन्होंने बताया कि तेरा सम्बन्ध तो ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों के साथ है, — ऐसा जानते मानते ही निज तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध का पता चल जाता है और ज्ञानक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अभी पूर्णता तो नहीं है; अत: संयोगसिद्धसम्बन्ध भी है और संयोगसिद्ध-सम्बन्ध को तथा परस्पर अवगाहसिद्धसम्बन्ध को परस्पर निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भी है। है बस, जाना हुआ प्रयोजनवान् है। दृष्टि, ज्ञायकस्वभाव पर है; शुद्धि बढ़ती जाती है, अशुद्धि घटती जाती है और अपने स्वभाव में परिपूर्ण स्थिरता करके क्रम से मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

— जब तक जीव को शरीरादि परद्रव्यों में अपनेपने का भ्रम विद्यमान है, तब तक धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। पूज्यगुरुदेवश्री फरमाते हैं :—

मङ्गल समर्पण

जो अनन्त संसार का अन्त लाने के लिए पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करने को निकले हैं - ऐसे जीवों का किया हुआ प्रारम्भ, वापस नहीं होता, ऐसे लोगों की ही यहाँ बात है। यह तो अप्रतिहतमार्ग है। **पूर्णता के लक्ष्य से किया गया प्रारम्भ, वापस नहीं होता। पूर्णता के लक्ष्य से पूर्णता होती ही है।**

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

‘यह देह–मन–वाणी तो जड़ हैं, माटी धूल हैं, तथा स्त्री–पुत्र परिवार, देव–गुरु, चेतन–परजीव हैं, तथा धर्मास्तिकाय आदि अचेतन परद्रव्य हैं। इनमें अपनेपन का अध्यवसान, मिथ्यात्व है, क्योंकि अपनापन तो अपनों में ही होता है ‘पर’ में नहीं। वस्तुतः पर में अपनापन तो कभी हो ही नहीं सकता। ‘पर’ में अपनेपन का तो मात्र भ्रम होता है, जोकि अध्वसानरूप है।’

(श्रीप्रवचनरत्नाकर, भाग-8, पृष्ठ 183)

‘मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थों को अन्यथा माने, उन्हें अन्यथा परिणमित करना चाहे तो आप ही दुःखी होता है तथा उन्हें यथार्थ मानना और यह परिणमित कराने से अन्यथा परिणमित नहीं होंगे, ऐसा मानना, सो ही उस दुःख के दूर होने का उपाय है। भ्रमजनित दुःख का उपाय, भ्रम दूर करना ही है। सो भ्रम दूर होने से सम्यक्श्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना।’ *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 52)*

— कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों में एकत्वबुद्धिरूप मिथ्या अध्यवसाय, सप्त व्यसनों से भी बड़ा पाप है, जिसका फल संसार है; अतः शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, निजात्मा का अनुभव करके मिथ्यात्व का अभाव शीघ्र करना चाहिए। क्योकि जिनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर, फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्तव्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर, पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दुःखसमुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो।’ *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 192)*

— मिथ्या अध्वसाय का फल जानकर, मिथ्यात्व के अभाव का उपाय करने हेतु निजात्मा का आश्रय तो ले नहीं और व्रत–उपवास करे, दिन–रात शास्त्रों का अभ्यास करे तो क्या मिथ्यात्व का अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, क्योंकि :—

सर्वथा नहीं —

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥ *(छहढ़ाला, चौथी ढ़ाल)*

‘देखो! तत्त्वविचार (आत्मानुभव) की महिमा। तत्त्वविचाररहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करे, व्रतादि पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नहीं; और

हे भाई! परद्रव्य तो ज्ञेय हैं, उनके साथ ज्ञाता–ज्ञेयपने का ही सम्बन्ध है किन्तु वे बैरी होकर इस जीव का अहित करें – ऐसा उनका स्वभाव नहीं है। जगत् में कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का बैरी है ही नहीं। परद्रव्य को इष्ट–अनिष्ट मानना, यह भ्रमबुद्धि है।

तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 260)

— अब, सर्व प्रकार की अनुकूलता होने पर भी, यदि शरीर से सर्वथा भिन्न निज आत्मा की पहचान न की तो – 'अब तक सच्चे मोक्षमार्ग के भान बिना, चौरासी लाख योनियों में भटका है और यदि यह मंगल अवसर भी चूक गया तो अनन्त काल तक नरक–निगोद में पड़े–पड़े तड़फना पड़ेगा।'

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग–8, पृष्ठ–184)

'जीव, संसार में परिभ्रमण करता है, वहाँ कर्मों का तीव्र उदय हो, तब तो उसका पुरुषार्थ कुछ नहीं है, उपदेश भी कार्यकारी नहीं है और कर्म का मन्द उदय हो, तब पुरुषार्थ करके मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करे तो मोक्ष प्राप्त कर ले, उसी को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं; और मोक्षमार्ग में प्रवर्तन नहीं करे तो किंचित विशुद्धता पाकर, फिर तीव्र उदय आने पर निगोदादि पर्याय को प्राप्त करेगा।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 313)

— मैं ज्ञान–दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ। मुझ आत्मा का कैलाशचन्द्र शरीरादि अजीवतत्त्वों से, जिनमें कि मेरा ज्ञान–दर्शन नहीं है, सर्वथा सम्बन्ध नहीं है।

— ज्ञान–दर्शन उपयोगमयी आत्मा का यदि कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है तो फिर उनसे अपना सम्बन्ध क्यों माना है ?

ज्ञान–दर्शन उपयोगमयी निज जीव की पहचान न होने के कारण, कैलाशचन्द्र नामरूप शरीर ही अपना भासित होता है और मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसी विपरीत मान्यता के कारण, चारों गतियों में घूमता हुआ निगोद चला जाता है।

'आत्मा अपने आप में महान वस्तु है, परन्तु उस आत्मा की सच्ची पहिचान बिना एवं उसकी निरपेक्ष शक्तियों की स्वावलम्बी सामर्थ्य के ज्ञान बिना, अज्ञानी जीव, बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझ–उलझ कर, अनादि से अनन्त दुःख भोग रहे हैं।' *(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग 8 पृष्ठ 187)*

'चेतन को है उपयोगरूप बिन्मूरत चिन्मूरत अनूप,
पुद्गल–नभ–धर्म–अधर्म–काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताको न ज्ञान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान॥

(छहढ़ाला, दूसरी ढ़ाल)

— ज्ञान–दर्शन–उपयोगमयी निज जीवतत्त्व की पहचान न होने के कारण, कैसी–कैसी भूलें होती हैं—

मङ्गल समर्पण

जिस प्रकार पानी में रहने पर भी कमल, पानी से अलिप्त रहता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहते हुए भी गृहस्थदशा में लिप्त नहीं होता; उदासीन, अर्थात् निर्मोही रहता है। जिस प्रकार वेश्या का प्रेम, मात्र पैसे से ही होता है; मनुष्य से नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का प्रेम सम्यक्त्व से ही होता है, गृहस्थपने में नहीं होता। तथा जिस प्रकार सोना, कीचड़ में पड़े रहने पर भी निर्मल रहता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव, गृहस्थदशा में रहने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता।

– पण्डित दौलतराम

1. मैं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ - इस बात का पता न होने से, मैं कैलाशचन्द्र हूँ —ऐसा मानता है।

2. मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है - इस रहस्य का पता न होने से, मैं उठता-बैठता, खाता-पीता हूँ —ऐसा मानता है।

3. ज्ञान, मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से आता है; सुख, मुझ आत्मा के सुखगुण में से आता है, इस बात का पता न होने से, ज्ञेयों से ज्ञान होता है; पाँच इन्द्रियों के विषयों से सुख होता है — ऐसा मानता है।

इस प्रकार अपनी पहचान न होने के कारण, द्रव्यसम्बन्धी, गुणसम्बन्धी, पर्यायसम्बन्धी — तीनों ही भूलें विद्यमान रहती हैं।

'यह जो अध्यवसान हैं, वे 'मैं, पर का हनन करता हूँ,' मैं, नारक हूँ, 'मैं, परद्रव्य को जानता हूँ' इस प्रकार के हैं। वे, जब तक आत्मा का और रागादि का; आत्मा का और कर्मोदयजनित नारकादि भावों का; तथा आत्मा का और ज्ञेयरूप अन्यद्रव्यों का भेद न जाना हो, तब तक रहते हैं।' *(श्री समयसार, गाथा 270 का भावार्थ)*

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

स्वाश्रितो निश्चय - पराश्रितो व्यवहार

— स्वाश्रितो निश्चय :- से क्या तात्पर्य है ?

स्वाश्रितो निश्चय, अर्थात् स्वज्ञान-दर्शन उपयोगमयी निज जीवतत्त्व के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी निज जीवतत्त्व के आश्रय से ही श्रावकपना, मुनिपना, अरहन्त व सिद्धदशा की प्राप्ति होती है; इसके अलावा धर्म की प्राप्ति, वृद्धि व पूर्णता का कोई मार्ग ही नहीं है। श्री समयसार में कहा है कि :—

'मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करें॥ 272॥

अर्थात्, निश्चयनय के आश्रित मुनि, निर्वाण को प्राप्त होते हैं।'

(श्री समयसार, गाथा 272 व अर्थ)

'भूतार्थ आश्रित आत्मा, सुदृष्टि निश्चय होय है॥

अर्थात्, जो जीव, भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से (वास्तव में) सम्यग्दृष्टि हैं।' *(श्री समयसार, गाथा 11 व अर्थ)*

हे भाई! तू तो ज्ञान है, तेरे ज्ञान में परद्रव्य कुछ बिगाड़ता नही है और तेरे ज्ञान में शुभ-अशुभराग करने का भी स्वभाव नहीं है; तेरा आत्मा तो चैतन्यप्रकाशी ज्ञानसूर्य है, उसका बहुमान कर और राग का बहुमान छोड़। शुभराग का बहुमान भी छोड़ और अपने शुद्धस्वभाव का बहुमान कर।

मङ्गल समर्पण

राग से भिन्न चैतन्य का अनुभव करनेवाला अव्रती सम्यग्दृष्टि भी पूज्य है, महिमावन्त है, प्रशंसनीय है। 'अहो! तुमने आत्मा का कार्य किया, तुम आत्मा की अनुभूति द्वारा भगवान के मार्ग में आये' — इस प्रकार इन्द्र को भी, अपने साधर्मी के रूप में, उसके (अव्रती-सम्यग्दृष्टि के) प्रति आदरभाव आता है। इस मनुष्यदेह में पञ्चम काल की प्रतिकूलता के मध्य भी तुमने आत्मा की साधना की.... तुम्हें धन्य है!

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

— स्वाश्रितो निश्चय की, अर्थात् पर से भिन्न, निजात्मा की बात समझ में क्यों नहीं आती ?

काम-भोग-बन्ध की कथा तो अनन्त बार सुनी है परन्तु परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, एक चैतन्य-चमत्कार स्वरूप निजात्मा की पहचान कभी हुई नहीं और जिन्हें पहचान हुई है, उनकी संगति करके चैतन्यस्वरूप आत्मा की कथा कभी सुनी नहीं; इसलिए स्वाश्रितो निश्चय, अर्थात् पर से भिन्न निजात्मा की बात समझ में नहीं आती।

'है सर्व श्रुत परिचित अनुभूत भोग बन्धन की कथा।
पर से जुदा एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना॥

सर्व लोक को काम-भोग सम्बन्धी, बन्ध की कथा तो सुनने में आ गयी है, परिचय में आ गयी है, और अनुभव में भी आ गयी है; इसलिए सुलभ है, किन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व होना न कभी सुना है, न परिचय में आया है और न अनुभव में आया है; इसलिए एकमात्र वही सुलभ नहीं है।' *(श्री समयसार, गाथा 4 व अर्थ)*

— स्वाश्रितो निश्चय और पराश्रितो व्यवहार - अर्थात्, स्व के (ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी निज जीवतत्त्व के) आश्रय से प्रगट होनेवाला निश्चय ही प्रशंसनीय है, उपादेय है और पर जिसका आश्रय है — ऐसा व्यवहार, छोड़ने योग्य है।

'स्वाश्रितो निश्चय, पराश्रितो व्यवहार, अर्थात् जितना 'पर' का आश्रय है, वह सब व्यवहार है।..... दया, दान, व्रत भक्ति-पूजा आदि सभी भावों में पर का आश्रय है, इस कारण वह सब व्यवहार है। आचार्य कहते हैं कि पर जिसका आश्रय है — ऐसा सम्पूर्ण व्यवहार ही छोड़ने योग्य है; एक स्वाश्रय ही प्रशंसा योग्य है।' और —

'बापू! वीतराग का मार्ग, मोक्ष का मार्ग तो एकमात्र वीतरागभावस्वरूप ही है। वह पूर्ण स्वाश्रित है, उसमें पराश्रित राग का एक अंश भी नहीं समा सकता।...... मार्ग तो एक शुद्ध चैतन्यस्वभावमय, वीतरागमय ही है। जिस तरह भगवान आत्मा एक चैतन्यभाव का, अतीन्द्रिय आनन्द व शान्ति का पिण्ड है, उसी प्रकार उसके आश्रय से प्रगट हुआ मार्ग भी वैसा ही अतीन्द्रिय आनन्दमय है, वीतरागी शान्तिमय है। वीतरागता का मार्ग, राग (पराश्रित व्यवहार) नहीं हो सकता।' *(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-8, पृष्ठ -186)*

— पराश्रित व्यवहार को छोड़ने योग्य क्यों कहा है ?

आत्मा के पर निमित्त से जो भाव होते हैं — वे सब अध्यवसान है, वे सब व्यवहारनय का विषय हैं; अत: व्यवहारनय पराश्रित है और अध्यवसान का त्याग, व्यवहारनय का ही त्याग है। जो निश्चयनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे मुक्त होते हैं; जो व्यवहारनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे कभी मुक्त नहीं होते; अत: व्यवहार छोड़ने योग्य है।

'आत्माश्रित, अर्थात् स्व-आश्रित निश्चयनय है; पराश्रित, अर्थात् पर के आश्रित व्यवहारनय है। पराश्रित समस्त अध्यवसान, अर्थात् अपने और पर के एकत्व की मान्यतापूर्वक परिणमन, बन्ध का कारण होने से मुमुक्षुओं को उसका (अध्यवसान) का निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनय के द्वारा वास्तव में व्यवहारनय का ही निषेध कराया है क्योंकि व्यवहारनय के भी पराश्रितता समान ही है। जैसे, अध्यवसान पराश्रित है, उसी प्रकार व्यवहारनय भी पराश्रित है, उसमें अन्तर नहीं है। इस प्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने, अर्थात् छोड़ने योग्य ही है।'

(श्री समयसार, गाथा 272 की टीका)

'क्योंकि सर्व ही हिंसादि व अहिंसादि में जो अध्यवसाय है, सो समस्त ही छोड़ना — ऐसा जिनदेवों ने कहा है; इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यवहार है, सो सर्व ही छुड़ाया है। सन्त पुरुष एक परम निश्चय ही को भले प्रकार निष्कम्परूप से अङ्गीकार करके, शुद्धज्ञानघनरूप निज महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते ?'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ - 250)

'स्वाश्रित निश्चय और पराश्रित व्यवहार को चौथे गुणस्थान में किस प्रकार जानना चाहिए ? चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरणचारित्र की प्राप्ति, स्वाश्रित होने से निश्चय सम्यग्दर्शन है और देव-गुरु-शास्त्र का राग तथा सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा, पराश्रित होने से व्यवहार है; सम्यग्दर्शन नहीं है। संसार का कारण है; मोक्ष का कारण नहीं है।'

— ज्ञानी को निश्चय-व्यवहार क्या है ?

अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव, यथार्थ का नाम निश्चय और शुद्धपर्याय प्रगटी, उपचार का नाम व्यवहार है।

'अध्यात्म में निश्चय तो त्रिकाल सत् द्रव्यस्वभाव है और उसके आश्रय से

भाई! धर्म कोई अलौकिक चीज है, जब तक राग और पुण्य-पाप की बुद्धि थी तब तक स्वभाव से विमुख और संसार के सन्मुख था; राग का कर्ता होता था, जहाँ राग से दृष्टि हटकर स्वभाव सन्मुखता हुई, वहाँ सम्पूर्ण जगत के जाल से पृथक् हो गया।

प्रगट होनेवाली वीतराग निर्विकल्पपरिणति, वह अध्यात्म का व्यवहार है।' *(पूज्य गुरुदेव के वचनामृत-प्रवचन, पृष्ठ 17)*

— स्वाश्रित निश्चय की प्राप्ति के लिये क्या करना ?

'मैं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ — ऐसा निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना तथा मैं कैलाशचन्द्र जैन हूँ — ऐसा व्यवहारनय से निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-250)*

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

दिनाँक 8 फरवरी 1997

सम्यग्दर्शन का राजमार्ग

प्रश्न – राजमार्ग क्या है – जिसको अङ्गीकार करने पर सच्चे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होकर क्रम से सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

उत्तर – (1) प्रथम तो देवादिक का श्रद्धान हो, (2) फिर तत्त्वों का विचार हो, (3) फिर स्व-पर का चिन्तवन करे, (4) फिर आत्मचिन्तवन करें – इस अनुक्रम से अङ्गीकार करने पर परम्परा सच्चे मोक्षमार्ग को पाकर क्रम से सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

प्रश्न – देवादिक का श्रद्धान व तत्वों का विचार आदि होने पर भी हमें धर्म की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

उत्तर – जिसके मिथ्यात्व का उदय है, उसके विपरीताभिनिवेश पाया जाता है। उसके ये लक्षण —देवादिक का श्रद्धान, सात तत्त्वों का विचार, स्व-पर का विचार व आत्मविचार — ये लक्षण आभासमात्र होते हैं; सच्चे नहीं होते।

प्रश्न – मिथ्यादृष्टि के लक्षण आभासमात्र क्यों होते हैं; सच्चे क्यों नहीं होते ?

उत्तर – मिथ्यादृष्टि के विपरीताभिनिवेश पाया जाता है। अत: जिनमत के जीवादिक तत्त्वों को मानता है, अन्यमत के तत्त्वों को नहीं मानता; उनके नाम भेदादिक सीखता है – ऐसा तत्त्वश्रद्धान होता है परन्तु उनके यथार्थ भाव का श्रद्धान नहीं होता; इस कारण उसके यह लक्षण आभासमात्र होते हैं, सच्चे नहीं होते।

तीन लोक और तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। **यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मों का मूल है; इसके अतिरिक्त जितने क्रियाकाण्ड हैं, वे सब दु:खदायक हैं।**

– पण्डित दौलतराम

'जीवादि प्रयोजनभूत तत्व, सरधैं तिनमाहिं विपर्ययत्व।'

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष - ये सात प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व है। जीवतत्त्व एकमात्र आश्रय करने योग्य प्रयोजनभूततत्त्व है। जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन न पाया जाये, वे अजीवतत्त्व हैं; अजीवतत्त्व जानने योग्य प्रयोजनभूततत्त्व हैं। शुभाशुभ-विकारीभावों का उत्पन्न होना, आस्रवतत्त्व है; शुभाशुभ-विकारीभावों में अटकना, बन्धतत्त्व है; आस्रव व बन्धतत्त्व छोड़ने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। शुद्धि का प्रगट होना, संवरतत्त्व है; शुद्धि की वृद्धि होना, निर्जरातत्त्व है। संवर व निर्जरातत्त्व एकदेश प्रगट करने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना, मोक्षतत्त्व है। मोक्षतत्त्व पूर्ण प्रगट करने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व है।

इस प्रकार जीवादिक तत्त्वों के नाम, भेदादिक सीखता है परन्तु जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है, वे अजीवतत्त्व हैं, उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं हैं — ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता; अत: शास्त्राभ्यास करने पर भी ये लक्षण आभासमात्र ही होते हैं; सच्चे नहीं होते।

'अपने को आपरूप जानकर, अपना अंश भी पर में न मिलाना और पर का अंश भी अपने में न मिलाना — ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं है; इसलिए ये लक्षण आभासमात्र होते हैं, सच्चे नहीं होते।' ***(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ 225)***

प्रश्न - जीव-अजीवतत्त्वों के यथार्थभाव का श्रद्धान क्या है ?

उत्तर - तत्वार्थश्रद्धान करने का अभिप्राय केवल उनका नाम भेदादिक सीखकर निश्चय करना मात्र ही नहीं है। वहाँ अभिप्राय ऐसा है - जीव-अजीव को पहचानकर, जैसा का तैसा माने।

प्रश्न - जैसा का तैसा माने - से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर - जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है, वे अजीवतत्त्व मुझसे भिन्न हैं — ऐसा पहचानकर, निज जीव का अंश अजीव में न मिलाना और अजीव का अंश भी निज जीव में न मिलाना — यह है जैसा का तैसा मानना।

'अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादिनिधन वस्तु आप है; मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित, स्पर्श-

भाई! तेरे अन्तर में पूर्ण परमात्मा विराजमान है, तेरे अन्तर में भगवान परमेश्वर विराज रहा है; उसे देख! अन्तर्मुख होकर उसका अवलोकन कर! अन्तर में अपने आत्मा को ऐसे शुद्धभाव से देखना-अनुभव करना ही जिनशासन में जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है।

रस-गन्ध-वर्ण सहित, नवीन जिनका संयोग हुआ है, ऐसे शरीरादि पुद्गल पर हैं। मुझ अमूर्तिक आत्मा का, रूपी पुद्गलों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है - ऐसा मानना ही जैसा का तैसा मानने का अभिप्राय है।'

'मुझ आत्मा देखने-जाननेरूप चेतनागुण का धारक है, इन्द्रियगम्य न होने योग्य अमूर्तिक है, संकोच-विस्तार शक्तिसहित असंख्यात प्रदेशी एक द्रव्य है। कैलाशचन्द्रशरीर, चेतनागुणरहित जड़ है, मूर्तिक है, अनन्त पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है; इसलिए एक द्रव्य नहीं है, अनेक द्रव्य हैं। इनका अनादि सम्बन्ध है तो भी मुझ जीव का कोई प्रदेश, कैलराशचन्द्ररूप नहीं होता और कैलाशचन्द्र का कोई परमाणु, मुझ जीवरूप नहीं होता। अपने-अपने लक्षण को धारण किये भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।'

ऐसा माने, यह 'जैसा का तैसा मानने' का अभिप्राय है।

'निश्चय से मुझ आत्मा, कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न, ज्ञान-दर्शनादि स्वभावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध वस्तु है। उसकी पहचान, व्यवहारनय से शरीर से करायी। यहाँ व्यवहार से कैलाशचन्द्र आदि पर्यायों को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना।'

वर्तमान पर्याय तो जानने-देखने की शक्तिवाले मुझ जीव व स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण वाले पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसी को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादि को जीव कहा, सो कथनमात्र है। परमार्थ से कैलाशचन्द्र शरीरादि, जीव होते नहीं — ऐसा ही श्रद्धान करना। यह जैसा का तैसा मानने का अभिप्राय है।

यह सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महल में पहुँचने की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना, ज्ञान और चारित्र, सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते; अर्थात्, जब तक सम्यग्दर्शन न हो, तब तक ज्ञान, मिथ्याज्ञान और चारित्र, मिथ्याचारित्र ही कहलाता है; इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए।

- पण्डित दौलतराम

दिनाँक 10 फरवरी 1997

जिनवाणी श्रवण की पात्रता

प्रश्न – भगवान की वाणी सुनने की पात्रता कब कही जा सकती है ?

उत्तर – भगवान की वाणी सुनना क्या ?

तत्प्रति प्रीति चित्तेन, ये वार्ताऽपि ही श्रुता।
निश्चतं स भवेदभव्यो भावि निर्वाणभाजनम्॥

जो प्रीतिपूर्वक भगवान की वाणी–चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात सुनता है, वह उसी क्षण मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेता है। जैसा सुना, वैसा ही विश्वास/श्रद्धा अपने में प्रगट हो; कैसे प्रगट हो ? कैलाशचन्द्र से सर्वथा भिन्न मैं ज्ञान–दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ — ऐसा जानकर, अपना आश्रय ले तो भगवान की वाणी सुनी कहलायी। शरीर से भिन्न, निजात्मा के आश्रय हेतु भगवान की वाणी सुनने की पात्रता, निम्न शर्तें पूरी होने पर ही कही जा सकती है–

(1) वृत्ति को अखण्ड करके, (2) पूजादि की कामना / चाहना नहीं करके, (3) जिसे संसार का दुःख लगा हो, (4) जिनवचन की परीक्षा करके उसी में जो लगा रहता है —

— ऐसा जीव ही भगवान की वाणी सुनने लायक है। उसे नियम से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

1–करि वृत्ति अखण्ड सन्मुख मूल मारग सांभलो जिन नो रे,

2–नोय पूजादिनी जो कामना रे मूल मारग सांभलो जिन नो रे,

3– नोय व्हालुं अन्तर भव दुःख, मूल मारग सांभलो जिन नो रे,

4– करी जो जो वचन की तुलना रे, जो जो शोधी ने जिन सिद्धान्त मूल मारग सांभलो जिन नो रे। *(श्रीमद्राजचन्द रचित गुजराती काव्य)*

जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित जिन सिद्धान्तों की परीक्षा करके प्रतीति करना। भगवान कहते हैं कि जो लौकिक में तो पूरी चतुराई प्रयोग करते हैं, लेकिन जहाँ आत्मा का सर्वस्व अर्पण कर देना चाहिए, वहाँ जो भी उपदेश मिलता है, उसमें यह हमारे कल्याण के लिये है या नहीं ? उसकी परीक्षा नहीं करते, वे वीतराग भगवान की वाणी सुनने लायक नहीं।

अहो जीवों ! स्वभाव की सावधानी करो.... स्वोन्मुख होओ.... अन्तर में अपने शुद्ध आत्मा को देखो ! शुद्ध आत्मा को देखते ही अनादि कालीन मिथ्यात्वरूप मोह का नाश हो जाएगा और अपूर्व आनन्द तथा बोधतरङ्गसहित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष का उपाय नहीं है। इसलिए हे जीवों ! अन्तरोन्मुख होओ.... आत्मा के शुद्धस्वभाव का लक्ष्य एवं पक्ष करके, उसका अनुभव करो।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

पण्डित दौलतरामजी, जीवों को सम्बोधन करते हैं कि — हे विवेकी आत्माओं! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन के स्वरूप को, अन्य अनुभवी ज्ञानियों से सुनकर, प्राप्त करने में सावधान होओ; अपने अमूल्य मनुष्य जीवन को व्यर्थ न गँवाओं। इस जन्म में ही यदि सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया तो फिर मनुष्यपर्याय आदि अच्छे योग, पुनः पुनः प्राप्त नहीं होंगे।

– पण्डित दौलतराम

परीक्षा किसकी करनी ?

— 'हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना योग्य है। जीवादिक द्रव्यों, तत्त्वों व स्व-पर को पहिचानना; त्यागने योग्य मिथ्यात्व-रागादिक, ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिक का स्वरूप पहिचानना तथा निमित्त-नैमित्तिक आदि जैसे है, वैसे पहिचानना।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 259)*

— परीक्षा किस प्रकार करनी ?

'नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना – यह दोनों तो उपदेश के अनुसार होते हैं। जैसा उपदेश दिया हो, वैसा याद कर लेना, परन्तु परीक्षा करने में अपना विवेक चाहिए; अतः विवेकपूर्वक एकान्त में अपने उपयोग में ऐसा विचार करे कि —

'जैसा उपदेश दिया है, वैसे ही है या अन्यथा है ?'

वहाँ अनुमानादि प्रमाण से बराबर समझे। अथवा ऐसा विचारे कि —

'उपदेश तो ऐसा है और ऐसा न माने तो ऐसा होगा।'

जब तक अपने अन्तरङ्ग में जैसा उपदेश दिया था, वैसा ही निर्णय होकर भाव-भासित न हो, तब तक इसी प्रकार उधम करना।'

जब तक सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो; 'यह इसी प्रकार है' ऐसी प्रतीतिसहित जीवादि तत्त्वों का स्वरूप आपको भासित न हो, जैसे कैलाशचन्द्र में अहंबुद्धि और टोपी आदि में परबुद्धि है, वैसे केवल आत्मा में अहंबुद्धि और कैलाशचन्द में परबुद्धि न हो; हित-अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने, तब तक निर्धार हेतु कभी स्वयं ही शास्त्र पढ़ता है, कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी स्वयं ही सुनता है, कभी स्वयं ही अभ्यास करता है, कभी स्वयं ही प्रश्नोत्तर करता है, इस प्रकार अत्यन्त हर्षपूर्वक अन्तरङ्ग प्रीति से साधन करे तो धर्म की प्राप्ति अवश्य होती है।

करना क्या है ? मैं जीवतत्त्व हूँ, अजीवतत्त्व से मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा निर्णयमात्र करना है। ऐसा निर्णय करने के लिये समग्र जिनवाणी है, द्वादशांग है। यदि वर्तमान में यह निर्णय नहीं किया तो पुनः यह अवसर मिलना कठिन है।

दिनाँक 13 फरवरी 1997

धर्म प्राप्ति के अवरोधक ....

— बाहरीरूप से सर्व अनुकूलताएँ होने पर भी, अर्थात् सच्चे-देव-गुरु-शास्त्र का समागम होने पर भी, शास्त्राभ्यास करने पर भी, हमें धर्म की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

अपने गिरेबान में झाँककर देखने की जरूरत है कि मैंने आज तक क्या किया है और शास्त्र का अभ्यास करने पर भी, सत्य बात सुनने पर भी मैं कर क्या रहा हूँ ? पाँच बातों का विचार करें-

1. अल्प आयु - शरीर की स्थिति थोड़े समय की है। कुछ समय पहले इसका संयोग हुआ और कुछ समय बाद इसका अभाव (वियोग) हो जायेगा, लेकिन चिन्ता पीढ़ियों की है - विचारने की जरूरत है — क्या धर्म के लिये अवकाश है ?

2. अनियत प्रवृत्ति - इच्छाओं पर अंकुश ही नहीं है। मात्र साढ़े तीन हाथ की जगह चाहिये और चिन्ता बड़े-बड़े महलों की है। एक मुट्ठी अनाज चाहिए और चिन्ता जन्मों-जन्मों की है। स्वयं विचारो — अवकाश कहाँ है ?

3. असीम बलवान असत्संग -

है सर्वश्रुत परिचित अनुभूत, भोग बन्धन की कथा।
पर से जुदा एकत्व की, उपलब्धि केवल सुलभ ना॥

काम-भोग-बन्ध की कथा सबके सुनने में आ गयी है, परिचय में आ गयी है; सब उसी का आचार्यत्व करते हैं। थोड़ा सा धर्म की ओर आये तो मात्र पुण्यभाव को ही धर्म मान कर बैठ गये। पूजा करो, दान करो, उपवास करो तो धर्म होगा - ऐसी उल्टी बात का श्रद्धान करके संसार में ही परिभ्रमण करता रहा। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है; प्रत्येक द्रव्य का कायम रहकर बदलना उसका स्वभाव है — ऐसी सत्य बात कभी सुनी नहीं, सुनने को मिली तो विश्वास नहीं किया — स्वयं विचारो — क्या धर्म के लिये अवकाश है ?

4. पूर्व का प्रायः करके अनाराधकपना -

अनादि काल से आज तक कभी सत्य बात न जानने के कारण, अपनी आत्मा की विराधना की है, स्वयं की पहचान नहीं की। आज जैनकुल,

अरे जीव! तेरे आत्मा में प्रभुता उछलती है.... और तेरी पामरता नष्ट हो जाए - ऐसी अद्भुत बात इस जैनशासन में सन्तों ने बतलायी है। इसलिए हे भाई! एक बार अपनी रागबुद्धि छोड़ और यह बात समझ! इसे समझने से ही तेरा हित होगा।

दिगम्बरधर्म व सच्चे-देव-गुरु-शास्त्र का समागम होने पर भी, निजात्मा की आराधना नहीं कर रहे हैं तो विचारो, धर्म के लिये अवकाश ही कहाँ है ?

5. बल-वीर्य की हीनता –

अज्ञान के कारण, अर्थात् निजात्मा को न जानने के कारण और स्वयं को शरीररूप मानने के कारण आज तक अपना / बल-वीर्य संसार के कार्यों में ही जोड़ा है – यह बल-वीर्य की हीनता है।

पुण्य की व पुण्यफल की भावना होना, नपुंसकपना है। स्वयं विचारों —क्या ऐसी बल-वीर्य की हीनता के विद्यमान रहते, धर्म का अवकाश है ?

अब क्या करें ?

अब, सर्व प्रकार से अवसर आया है। यह अवसर प्राप्त करना कठिन है। श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्य जीवों को प्रवृत्ति करना। यदि इस अवसर में भी तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ न करें, प्रमाद से काल गँवाये, मन्दरागादि सहित विषय कषाय के कार्यों में ही प्रवर्ते, तो अवसर चला जायेगा और संसार ही परिभ्रमण होगा। अत: सावधान! सावधान! सावधान!

इस संसार में सम्यग्ज्ञान के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान ही जन्म, जरा और मृत्युरूपी रोगों का नाश करने के लिए उत्तम अमृत समान औषधि है।

– पण्डित दौलतराम

दिनाँक 14 फरवरी 1997

धर्म के अयोग्य कब तक.....

प्रश्न – जीव को कब तक धर्म के अयोग्य कहा जाता है ?

उत्तर – जगत में जो-जो बातें और वस्तुएँ महिमावान गिनीं जाती है; जैसे – 1-शोभायमान गृह आदि आरम्भ, अर्थात् कषायों की प्रवृत्ति में चतुर,

(2) अलंकारादि परिग्रह, अर्थात् कषायों के साथ एकत्वबुद्धि,

(3) लोकदृष्टि का विचक्षणपना, अर्थात् लौकिक चतुराई,

(4) लोकमान्य धर्म श्रद्धावानपना, अर्थात् लोग जिसे धर्म कहते हैं, उसकी श्रद्धा —

— जब तक इन चारों में ही जीव की रुचि फँसी पड़ी है, तब तक आत्मा के कल्याण की बात सोच भी नहीं सकता; आत्मा का कल्याण होना तो बहुत दूर की बात है। अर्थात्, लौकिक सुख साधनों की सामग्री जुटाने में, मान-प्रतिष्ठा बनाने में, कुदेवादि को मानने में रत जीव, धर्म के अयोग्य है; उसका मनुष्य जन्म जानवर से भी गया बीता है।

प्रश्न – 'कषाय की प्रवृत्तियों में चतुर' से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – अनादि काल से जीव, अशुभ में ही पागल है। घर के काम-काज चतुराई से निपटाना, व्यापार करना, बड़े-बड़े कारखाने चलाना, घर-परिवार की सम्भाल रखना, समाज सेवा करना -यह तो अल्प चतुराई है, अल्प आरम्भ है। 'करूँ-करूँ' की कषाय की प्रवृत्ति, सबसे बड़ा आरम्भ है। अनादि काल से तो अशुभकषाय में ही पागल था। वर्तमान में मनुष्यभव, जैनकुल, दिगम्बरधर्म और सच्चे-देव-गुरु शास्त्र का योग बनने पर, कषायरहित स्वभाव का आश्रय लेकर जन्म-मरण का अभाव करने के बदले अशुभ, हेय है और शुभ, उपादेय है – ऐसी मिथ्या मान्यता का पोषण करके मिथ्यात्वभाव का ही सेवन किया। शुभभाव की प्रवृत्ति को अच्छा मानना, यह तो अनन्त संसार का कारण है, कहा है —

'अशुभकर्म, कुशील है (बुरा है); शुभकर्म, सुशील है (अच्छा है) — ऐसा तुम जानते हो किन्तु वह सुशील कैसे हो सकता है, जो जीव को संसार में प्रवेश कराता है।' ***(श्री समयसार, गाथा 145)***

हे भाई! यदि तुझे छुटकारे की भावना हो, मोक्ष की भावना हो, शुद्धता की भावना हो तो जैनशासन में कहे हुए सम्यक्त्वादि शुद्धभावों का सेवन कर और रागादि का सेवन छोड़! धर्मी को राग की भावना नहीं होती; उसे तो शुद्ध आत्मा की ही भावना होती है।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

यह जीव, द्रव्यलिङ्ग मुनिपना धारण करके एवं महाव्रतों का निरतिचार पालन करके, नववें ग्रैवेयक तक के विमान में अनन्त बार उत्पन्न हुआ, परन्तु आत्मज्ञान; अर्थात्, सम्यग्ज्ञान अथवा स्वानुभव के बिना, वह लेशमात्र भी सुख प्राप्त नहीं कर सका।

– पण्डित दौलतराम

'जैसे अशुभकर्म जीव को दुःख करता है, उसी प्रकार शुभकर्म भी जीव को दुःख करता है। कर्म में तो भला कोई नहीं है। अपने मोह को लिये हुए मिथ्यादृष्टि जीव, कर्म को भला करके मानता है।' *(श्री समयसार, कलश टीका 100)*

'कोई जीव, शुभोपयोगी होता हुआ, यतिक्रिया में मग्न होता हुआ, शुद्धोपयोग को नहीं जानता, केवल यतिक्रियामात्र में मग्न है। वह जीव ऐसा मानता है कि मैं तो मुनीश्वर हूँ, हमको विषय-कषाय निषिद्ध है। ऐसा जानकर विषय-कषाय सामग्री को छोड़ता है, आपको धन्यपना मानता है, मोक्षमार्ग मानता है, सो विचार करने पर ऐसा जीव, मिथ्यादृष्टि है।' *(श्री समयसार, कलश 101)*

'शुभकर्म के उदय, संसार; अशुभकर्म के उदय, संसार। विशेष तो कुछ नहीं। इससे ऐसा अर्थ निश्चित हुआ कि कोई कर्म भला, कोई कर्म बुरा, ऐसा तो नहीं; सब ही कर्म दुःखरूप हैं।' *(श्री समयसार, कलश 102)*

'जैसे जीव को अशुभक्रिया करते हुए बन्धन होता है, वैसे ही शुभक्रिया करते हुए बन्धन होता है, बन्धन में तो विशेष कुछ नहीं। कोई मिथ्यादृष्टि जीव, शुभक्रिया को मोक्षमार्ग जानकर पक्ष करता है सो निषेध किया। ....निश्चय से शुद्धस्वरूप का अनुभव, मोक्षमार्ग है।' *(श्री समयसार, कलश 103)*

'यहाँ कोई प्रश्न करता है कि शुभ-अशुभ सभी क्रिया निषिद्ध की, मुनीश्वर किसे अवलम्बते हैं?....... जिस काल में ऐसी प्रतीति आती है कि अशुभक्रिया मोक्षमार्ग नहीं, शुभक्रिया भी मोक्षमार्ग नहीं, उस काल में निश्चय से मुनीश्वरों को शुद्धस्वरूप का अनुभव सहज ही आलम्बन है। ......शुभ-अशुभ क्रिया में मग्न होता हुआ जीव, विकल्पी है, इससे दुःखी है। क्रिया संस्कार छूटकर, शुद्धस्वरूप का अनुभव होते ही जीव-निर्विकल्प है, इससे सुखी है।' *(श्री समयसार, कलश 104)*

'शुद्धस्वरूप का अनुभव, मोक्षमार्ग है; इसके बिना जो कुछ है — शुभक्रियारूप अशुभक्रियारूप अनेक प्रकार, वह बन्ध का मार्ग है, जिस कारण अपने आप भी सर्व ही बन्धरूप है। अपना जीव, जीव का सत्व मोक्षमार्ग है, निश्चय से प्रत्यक्षपने आस्वाद किया होता हुआ।' *(श्री समयसार, कलश 105)*

'जीवद्रव्य के अनादि से अशुद्धचेतनारूप रागादि परिणमन था, वह जाता है; शुद्धस्वरूप मात्र शुद्ध चेतनारूप, जीवद्रव्य परिणमता है, उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र कहा जाता है — ऐसा मोक्षमार्ग है।

तीनों कालों में ही ऐसा है, जो शुद्धचेतना परिणमनरूप स्वरूपाचरण-चारित्र, वह आत्मद्रव्य का निज स्वरूप है; शुभाशुभक्रिया के समान उपाधिरूप नहीं है। ....जो गुण-गुणीरूप भेद करते हैं तो ऐसा भेद होता है कि जीव का शुद्धपना गुण। जो वस्तुमात्र अनुभव करते हैं, तो ऐसा भेद भी मिटता है, क्योंकि शुद्धपना तथा जीवद्रव्य के वस्तु तो एक सत्ता है, ऐसा शुद्धपना मोक्षकारण है। इसके बिना जो कुछ करतूति है, वह समस्त बन्ध का कारण है।'

(श्री समयसार, कलश 106)

'जितना शुभक्रियारूप अथवा अशुभक्रियारूप आचरण लक्षण चारित्र, उसके स्वभाव से, अर्थात् उसरूप जो चारित्र, वह शुद्ध चैतन्यवस्तु का शुद्धस्वरूप परिणमन नहीं होता — ऐसा निश्चय है। भावार्थ इस प्रकार है - जितना शुभ-अशुभक्रियारूप आचरण अथवा बाह्य वक्तव्य अथवा सूक्ष्म अन्तरङ्गरूप चिन्तवन, अभिलाष, स्मरण इत्यादि अशुद्धत्वरूप परिणमन है, शुद्धपरिणमन नहीं; इसलिए बन्ध का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है।' *(श्री समयसार, कलश 107)*

'कोई जीव, क्रियारूप यतिपना पाते हैं, उस यतिपने में मग्न होते हैं — जो हमने मोक्षमार्ग पाया, जो कुछ करना था सो किया, सो उन जीवों को समझाते हैं कि यतिपना का भरोसा छोड़कर, शुद्ध चैतन्य स्वरूप को अनुभवो।'

(श्री समयसार, कलश 108)

अन्तिम आदेश :-

'शुद्धजीव के अनुभवरूप अकेला मोक्ष का कारण, उसको अन्य जो नाना प्रकार के अभिप्राय, उन समस्त को मेटकर, इसी को एक नित्य अनुभवो। वह कौन परमार्थ ? निश्चय से शुद्धजीव के स्वरूप के अनुभव के समान, द्रव्यक्रिया अथवा सिद्धान्त का पढ़ना-लिखना इत्यादि कुछ नहीं है, अर्थात् शुद्ध जीवस्वरूप का अनुभव मोक्षमार्ग सर्वथा है; अन्य समस्त मोक्षमार्ग सर्वथा नहीं है। बहुत बोलने से बस करो, बस करो..... चुप रहो, चुप रहो।' *(श्री समयसार, कलश 244)*

अहो! जिन्हें धर्म की भावना हो.... मोक्ष की भावना हो, वे जीव, आत्मा के स्वभाव का निरीक्षण करो.... आत्मा में अन्तर-अवलोकन करो; वही मुक्ति देनेवाला है। आत्मा के अन्तर-अवलोकन बिना, भव का अन्त नहीं आता। अरे! मनुष्यभव पाकर भी यदि आत्मा में भव के अन्त की भनक नहीं उठी तो जीवन किस काम का ?

दिनाँक 20 फरवरी 1997

इतना निर्णय अवश्य करें....

— जिसको जैनकुल, दिगम्बरधर्म, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का समागम आदि अनुकूलताएँ संयोगरूप से प्राप्त हुई हैं, वह शास्त्र का अभ्यास करने से पूर्व किन बातों को अवश्य ध्यान रखे –

1. जैसा केवलज्ञानी के केवलज्ञान में आया है, वैसा ही नियम से हो चुका है, हो रहा है और होता रहेगा; उसमें हेर-फेर करने के लिये इन्द्र, अहमिन्द्र या जिनेन्द्र भगवान भी समर्थ नहीं हैं – इससे लाभ यह है कि परद्रव्यों में स्वामीपने, कर्तापना व भोक्तापने का अभाव हो जाता है।

जाकरि जैसे जाहि समय में जे होता जा द्वार,
सो बनि है टरि है कछु नाहीं, करि लीनो निरधार
हमको कछु भय ना रे, जान लियो संसार।

(बुधजनजी कृत भजन)

'जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होनी वीरा रे,
अनहोनी कबहु न होत, काहे होत अधीरा रे॥'

'जिस जीव को, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधि से जन्म-मरण, सुख-दुख तथा रोग और दारिद्रय इत्यादि जैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं; उसी प्रकार वे सब नियम से होंगे। सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जाना है, उसी प्रकार उस जीव के उसी देश में, उसी काल में और उसी विधि से नियमपूर्वक सब होता है। उसके निवारण करने के लिये इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थङ्कर देव कोई भी समर्थ नहीं है।'

भावार्थ :– सर्वज्ञदेव, समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अवस्थाओं को जानते हैं। सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चय से होता है; उसमें हीनाधिक कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है।

(श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 321-322)

मङ्गल समर्पण

यदि इस अवसर में तत्त्वाभ्यास करके आत्मानुभव नहीं किया तो जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ अमूल्य रत्न पुनः हाथ नहीं आता; उसी प्रकार मनुष्य शरीर, उत्तम जैन श्रावककुल और जिनवचनों का श्रवण आदि सुयोग बीत जाने के बाद, पुनः पुनः प्राप्त नहीं होंगे; इसलिए इस अपूर्व अवसर को व्यर्थ न गँवाकर, आत्मस्वरूप की पहिचान; अर्थात्, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करके, यह मनुष्य-जन्म सफल करना चाहिए।

– पण्डित दौलतराम

2— कर्ता-कर्म सम्बन्ध, एक द्रव्य का उसकी पर्याय में ही होता है क्योंकि सर्वज्ञ भगवान की वाणी में आया है कि सामान्य में से विशेष आता है।

'परिणाम, परिणामी से भिन्न नहीं है क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है; भिन्न-भिन्न दो वस्तु नहीं हैं।...... जो पुरुष, एक द्रव्य को दो क्रियाएँ करता हुआ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि दो द्रव्यों की क्रियाओं को एक द्रव्य करता है — ऐसा मानना जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है।'

(श्री समयसार, गाथा 85)

3— जिनागम में निश्चय - व्यवहाररूप वर्णन हैं, वहाँ यथार्थ का नाम निश्चय है और उपचार का नाम व्यवहार है। अत: निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना तथा व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।

''जिनागम में जहाँ निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' - ऐसा जानना तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे 'ऐसे हैं नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है—' ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही निश्चय-व्यवहार दोनों का ग्रहण है।''

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-251)

'जिनवाणी, स्याद्वादरूप है, प्रयोजनवश नय को मुख्य-गौण करके कहती है। प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश, शुद्धनय का हस्तावलम्बन जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल, संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं, उसका उपदेश भी विरल है।..... शुद्धनय के ग्रहण का फल, मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि 'शुद्धनय भूतार्थ है, इसे जाने बिना जब तक व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।'

(श्रीसमयसार, गाथा 11 का भावार्थ)

वर्तमान में स्वयं को इतना क्षयोपशम प्रगट है कि उपरोक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए शास्त्राभ्यास करके, स्व-पर का भेदविज्ञान करके, आत्मकल्याण कर सके । अत: देरी करना ठीक नहीं है क्योंकि अगले समय का भी भरोसा नहीं है। अत: सावधान! सावधान! सावधान!

अरे जीव! तेरा आत्मा तेरे पास ही है और उसी के आधार से ही तेरा धर्म है। अन्तर्मुख होकर एकबार उसे प्रतीति में ले। जिस प्रकार रत्नों में वज्ररत्न सर्व श्रेष्ठ है; उसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थों मे यह चैतन्यस्वभावी रत्न सर्व श्रेष्ठ है और इस चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रतारूप जो बोधि, उसकी प्राप्ति जैनधर्म में ही है; इसलिए जैनधर्म ही जगत् में उत्तम है।

दिनाँक 1 अगस्त 1997

शरीर को अपना माननेरूप विपरीत मान्यता का अभाव कैसे ?

1- मुझ आत्मा अपने स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध है और वर्तमान परिणाम में भूल है।

2- यदि मैं त्रैकालिक शुद्धस्वभाव और वर्तमान भूल, दोनों को जानूँ तो स्वभाव के आश्रय से भूल का अभाव हो जाये।

3- यदि भूल को ही न जानूँ, अर्थात् भूल को अपना दोष न मानकर, कर्म ने कराया है — ऐसा मानूँ तो भी भूल का अभाव नहीं होगा।

4- यदि अपनी भूल को तो जानूँ, किन्तु निज शुद्ध त्रिकालस्वभाव को न जानूँ तो किसके आश्रय से भूल का अभाव हो ?

5- अत: त्रिकाल निज शुद्धस्वभाव और वर्तमान भूल, दोनों को जानना चाहिए, तभी भूल का अभाव होता है।

(प्रथम भाग) श्री मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें — पृष्ठ 51 से —

1-	मुझ आत्मा है / मैं आत्मा हूँ।	जीवतत्त्व
2-	आत्मा का परिणमन है।	
3-	उस परिणमन में भूल है।	आस्रव-बन्धतत्त्व
4-	भूल में कर्म, निमित्त है।	अजीवतत्त्व
5-	वह भूल, क्षणिक है।	
6-	आत्मा का त्रिकाल स्वभाव शुद्ध परिपूर्ण हैं, उसमें भूल नहीं है।	जीवतत्त्व
7-	उस स्वभाव के भान से वह भूल दूर हो सकती है।	संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व
8-	उस भूल को दूर करने में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही निमित्त होते हैं।	निमित्त
9-	भूल के दूर होते ही कर्म का संयोग स्वयं दूर हो जाता है।	अजीवतत्त्व

इसमें नवतत्त्वों का सार आ जाता है।

मङ्गल समर्पण

देखो, यह शरीर... जो जन्म से मरण तक सदा जीव के साथ एक क्षेत्ररूप रहनेवाला है, वह भी जीव को सुख-दु:ख में साथ नहीं देता। अज्ञानी जीव, जिसके पोषण के लिए जीवन भर पाप करता है, वह शरीर पाप का फल भोगने के लिए नरक में साथ नहीं जाता और जीव, मोक्ष में जाता है तो वहाँ भी शरीर साथ नहीं जा सकता।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

दिनाँक 6 अगस्त 1997

सिद्ध समान निज आत्मा

'जैसा सिद्ध क्षेत्र में राजत, तैसा घट में जाना जी।'
'मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान।'

सिद्ध भगवान की पहचान से भेदविज्ञान – पृष्ठ 1 व 2

जो जीव, सिद्ध भगवान के स्वरूप को जानता है, उसे भेदविज्ञान होता है ? किस प्रकार ?

1- भगवान की पहचान होते ही ऐसा भाव होता है कि अहो! — सिद्ध भगवान पूर्ण सुखी हैं, इनका ज्ञान परिपूर्ण है, इनके राग-द्वेष नहीं है, कर्म नहीं है, शरीर नहीं है।

2- सिद्ध भगवान, आत्मा हैं और मैं भी आत्मा हूँ; स्वभाव की अपेक्षा सिद्ध में और मुझमें अन्तर नहीं है।

3- सिद्ध भगवान की भाँति मैं भी अपने स्वभाव से परिपूर्ण हूँ।

4- सिद्ध के स्वरूप में राग-द्वेष, कर्म अथवा शरीर नहीं है; वैसे ही मेरे स्वरूप में भी राग-द्वेष, कर्म या शरीर नहीं है।

5- सिद्ध के पुण्य-पाप का भाव नहीं है; वैसे ही मेरे भी वर्तमान में जो पुण्य-पाप भाव होते हैं, वे मेरे स्वभावभाव नहीं, किन्तु उपाधिभाव हैं।

6- जो सिद्ध के नहीं है, वह मेरे भी नहीं है।

7- आत्मा का स्वभावभाव, शुद्ध पवित्र है, उस भाव के द्वारा सिद्ध भगवान ने रागादि उपाधिभावों को दूर किया है एवं स्वद्रव्य की स्थिरता के द्वारा परद्रव्यों का अहंकार नष्ट किया है।

8- जो सिद्ध के आत्मा में से दूर हो गया है, वह सब मेरे आत्मा में से भी निकलने योग्य ही है और मात्र सिद्धसमान शुद्धस्वभावभाव रहने योग्य है।

9- इस प्रकार सिद्धस्वरूप के ज्ञान-ध्यान द्वारा, भव्य जीवों को स्वभाव और परभाव का भेदज्ञान होता है।

अहो! आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी वीतरागधर्म ही संसार के नाश का कारण है, वही जैनधर्म है; उसे चूककर बेचारे मूढ़ जीव, राग और पुण्य में ही धर्म मानकर वहाँ रुक गये हैं किन्तु पुण्य की मिठास तो संसार की ही उत्पत्ति का कारण है।

मङ्गल समर्पण

यौवन, धन-सम्पत्ति, मकान, गाय-भैंस, स्त्री, घोड़ा-हाथी, कुटुम्बीजन, नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के विषय — ये सर्व वस्तुएँ क्षणिक हैं, अनित्य हैं, नाशवान हैं। जिस प्रकार इन्द्रधनुष और बिजली देखते ही देखते विलीन हो जाती हैं; उसी प्रकार ये यौवनादि कुछ ही काल में विनष्ट हो जाते हैं। ये कोई भी पदार्थ नित्य और स्थायी नहीं हैं किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है।

– पण्डित दौलतराम

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

दिनाँक 3 नवम्बर 1996

जैनदर्शन, वीतरागभाव है; धर्म,वीतरागभाव है; शरीर की क्रिया व शुभभाव धर्म नहीं, धर्म का कारण नहीं है। शरीर सर्वथा भिन्न है। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य से सर्वथा भिन्न है; भिन्न ही रहता है, अन्य द्रव्य की सत्ता में प्रवेश नहीं पाता, तो सर्वथा भिन्न शरीर की क्रिया से मुझ आत्मा का धर्म! असम्भव! असम्भव!

शुभभाव-शास्त्र पढ़ने का भाव, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव, पञ्च महाव्रत का भाव, 12 अणुव्रतादि का या 28 महाव्रतादि का भाव, मुझ चैतन्यस्वभाव से विपरीतभाव — इस विपरीतभाव से मुझ आत्मा का धर्म! असम्भव! असम्भव!

वीतरागभाव ही धर्म है। ये वीतरागभाव, मुझ आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है; अतः कीमत किसकी है? एकमात्र चैतन्यस्वरूप निज ज्ञायक भगवान आत्मा की। बस एक खुद को ही मुख्य करना है, जिसका फल वीतरागभाव, संसार का अभाव, पंचम गति मोक्ष की प्राप्ति।

वाह! धन्य हो पूज्य गुरुदेवश्री को जिन्होंने शास्त्रों के गहरे-गहरे रहस्यों को स्वयं समझ कर, हम पामर जीवों के लिये भी करुणापूर्वक मोक्ष का मार्ग प्रकाशित किया।

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

दिनाँक 20 फरवरी 1998

वस्तुस्थिति की अचलित मर्यादा

श्री समयसार, गाथा 103 का रहस्य –

जो द्रव्य जो गुण-द्रव्य में, परद्रव्यरूप न संक्रमे।
अनसंक्रमा किस भाँति वह, परद्रव्य प्रणमावे अरे॥

मुझ आत्मा, शरीर की किसी भी अवस्था का कर्ता नहीं है। शरीर में रोग अवस्था होने पर मैं रोगी हूँ — इस प्रकार शरीर की अवस्था को अपना मानकर, अर्थात् मिथ्यात्व के कारण, रोग अवस्था को अनिष्ट मानकर, हटाना चाहता है और निरोगता को इष्ट मानकर, लाना चाहता है परन्तु रोग का रहना या जाना मुझ

आत्मा के भावों के आधीन नहीं है क्योंकि अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है; कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती। दूसरे को परिणमित कराने का भाव ही मिथ्यादर्शन है।

मुझ आत्मा अपने परिणाम का कर्ता है और रोग का रहना या जाना, शरीररूप आहारवर्गणा के आश्रित है। मुझ आत्मा की इच्छारूप परिणाम में मुझ आत्मा का चारित्रगुण ही व्याप्त होने से, इच्छा अपने आश्रयभूत चारित्रगुण का ही परिणाम है, रोग का नहीं। रोगी अथावा निरोगीदशा अपने आश्रयभूत शरीररूप आहारवर्गणा का ही कार्य है, मुझ आत्मा का नहीं, क्योंकि यदि मुझ आत्मा नष्ट होकर शरीररूप आहारवर्गणा बन जाये तो ऐसा माना जा सकता है कि मुझ आत्मा की इच्छा के कारण, रोग दूर होकर निरोगदशा हो गयी है, लेकिन ऐसा कभी नहीं हो सकता क्योंकि व्याप्य-व्यापकसम्बन्ध एक द्रव्य का उसकी पर्याय में ही होता है; दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में नहीं। यही रहस्य इस गाथा में खोला है -

'जो वस्तु, अर्थात् द्रव्य, जिस द्रव्य में और गुण में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य में और गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती और अन्य द्रव्य में संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह, अन्य वस्तु को कैसे परिणमन करा सकती है।'

अर्थात्, मुझ आत्मा —मुझ ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख आदि अनन्त गुणरूप निज सत्ता को छोड़कर, शरीर के स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णमयी अनन्त पुद्गल परमाणुओं की सत्ता में संक्रमण को प्राप्त नहीं होता।

अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुण और ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनन्त विशेषगुण, एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायसहित अपनी सत्ता को छोड़कर; अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्यगुण, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण आदि अनन्त विशेषगुण एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायों सहित एक परमाणु की सत्तारूप शरीर के अनन्त परमाणुओं की अनन्त सत्ताओं में संक्रमण को प्राप्त न होती हुई, शरीर की रोग अवस्था को हटाकर, निरोग अवस्था को कैसे ला सकता है ? अर्थात्, सर्वथा नहीं ला सकता।

जगत की प्रत्येक चेतन व अचेतन वस्तु, अपने-अपने द्रव्य-गुणरूप निजरस में ही अनादि से वर्तती है, वस्तु की अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को

देखो, यह जिनशासन! चिदानन्दस्वभाव के अन्तर-अनुभव से सम्यग्दर्शन होते ही अनादि कालीन दर्शनमोह का तथा अनन्तानुबन्धी कषायरूप क्षोभ का नाश हुआ, वहाँ जिनशासन का प्रारम्भ हुआ। मोह तथा क्षोभ के अभावरूप जो सम्यग्दर्शनादि शुद्धपरिणति हुई, उसका नाम धर्म है। ऐसे शुद्धभाव द्वारा जिनशासन को पहिचानना चाहिए....। जहाँ सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव है, वहीं जिनशासन है।

तोड़ना अशक्य होने से, अपनी-अपनी सत्ता में अनादि-अनन्त वर्तती है; अपनी सत्ता से बाहर न कोई निकला है, न निकलता है और न ही निकल सकेगा। अत: एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य में संक्रमण नहीं करता और जब एक द्रव्य, दूसरे द्रव्यरूप होता ही नहीं, फिर उसे परिणमित कैसे करा सकता है ? अत: जो द्रव्यस्वभाव है, उसे कोई भी नहीं बदल सकता- यह प्रत्येक द्रव्य की मर्यादा है।

एकत्व निश्चय गत समय सर्वत्र सुन्दर लोक में।
उससे बने बन्धन कथा जु विरोधनी एकत्व में॥ *समयसार, गाथा 3*

प्रत्येक वस्तु अनादि-निधन है। अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहती है; अत: पृथक-पृथक है। प्रत्येक अपनी-अपनी मर्यादा में कायम रहती हुई, अपना-अपना प्रयोजनभूत कार्य करती हुई, निरन्तर बदल रही है। कोई किसी के आधीन नहीं है; किसी को अपने परिणमन के लिये पर की अपेक्षा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य, अपने गुण-पर्यायों का ही स्पर्श करता है तथापि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता — इसी से विश्व सुन्दर है परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव, वस्तुस्वरूप को नहीं जानता और परद्रव्यों में अपनी इच्छानुसार परिणमन करना चाहता है। दूसरे द्रव्य में तो कुछ नहीं कर सकता परन्तु इन विपरीत परिणामों से आकुल-व्याकुल होता है और दुर्गति में पहुँच जाता है। अभी वस्तुस्वरूप को समझने का मौका है। अत: सावधान! सावधान! सावधान!

जैनकुल और सद्गुरु का योग महाभाग्य से ही मिलता है।

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

दिनाँक 26 फरवरी 1998

धर्म का मूल : सर्वज्ञ

धर्म क्या है ? दु:ख का न होना, वही सुख है और सुख ही धर्म है। कैसा सुख ? शाश्वत सुख! शाश्वत सुख, शाश्वत के आश्रय से होता है। शाश्वत तो प्रत्येक द्रव्य है लेकिन जिसका मेरे से कभी अभाव नहीं होता — ऐसा मैं स्वयं ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख-श्रद्धा आदि अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड आत्मा — ओ हो! मेरा सुख मुझ शाश्वत आत्मा के आश्रय से ही होता है। ऐसा सुख प्रगट करने के लिये सर्व प्रथम सच्चे देव का निर्णय होना चाहिए क्योंकि —

'चारित्र खलु धम्मो' — वास्तव में चारित्र ही धर्म है और इस धर्म का मूल, सम्यग्दर्शन है - 'दंसण मूलो धम्मो' — और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति

मङ्गल समर्पण

जिस प्रकार हिरण को सिंह मार डालता है; उसी प्रकार इस संसार में जो-जो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, खगेन्द्र, अर्थात् पक्षियों के राजा इत्यादि हैं, उन सबका काल, अर्थात् मृत्यु नाश करती है; चिन्तामणि आदि मणि, मन्त्र, जन्त्र और तन्त्रादि कोई भी उन्हें मृत्यु से नहीं बचा सकते।

- पण्डित दौलतराम

वस्तुस्वभाव के निर्णय से होती है। अतः- 'वत्थु सहावो धम्मो' - और ये वस्तुस्वरूप कहाँ से आया ? सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जैसा वस्तुस्वरूप आया है, वैसा ही हो चुका है, हो रहा है, और होता रहेगा। प्रश्न है कि सर्वज्ञदेव के ज्ञान में वस्तु का स्वरूप कैसा आया है ?

इस विश्व में जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त-अनन्त गुण हैं। प्रत्येक गुण में हर समय एक पर्याय का उत्पाद, एक पर्याय का व्यय और गुण ध्रौव्य रहता है - ऐसा अनादि काल से प्रत्येक द्रव्य और गुण में हो चुका है, हो रहा है और होता रहेगा- यह जिनेन्द्रदेव कथित वस्तु का स्वरूप है।

यह सर्वज्ञदेव प्रणीत वस्तुस्वरूप ही आगम है, जोकि पूर्वाचार्यों ने आगमरूप में बद्ध किया है। विश्व की व्यवस्था को जानकर, स्व-पर का भेदविज्ञान करके, सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही अपना कर्तव्य है क्योंकि सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। अतः द्रव्यानुयोग के अभ्यास से स्व-पर का भेदविज्ञान करना है। ये अनुयोग, सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत है। अतः जिसे सच्चे-देव का ही निर्णय नहीं होगा, वह वस्तुस्वरूप की श्रद्धा कैसे करेगा ?

जैनदर्शन का रहस्य समझने के लिये अति आवश्यक प्रश्न -

1- विश्व किसे कहते हैं ? जाति अपेक्षा छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। और संख्या अपेक्षा जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात- इन सब द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं।

2- द्रव्य किसे कहते हैं ? गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।

3- गुण किसे कहते हैं ? जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहता है, उसे गुण कहते हैं।

4- पर्याय किसे कहते हैं ? गुणों के कार्य को पर्याय कहते हैं।

5- विश्व, अर्थात् पूर्व कथित विश्वव्यवस्था समझना है। द्रव्य-गुण-पर्याय से हमें क्या समझना है ?

6- इस विश्व-व्यवस्था को जानने से क्या लाभ है ?

अनादिकाल से परद्रव्यों में जो कर्ता-भोक्ताबुद्धि चली आ रही है, उसका तुरन्त अभाव हो जायेगा और धर्म का प्रारम्भ हो जायेगा।

धर्म तो मोह-क्षोभरहित - ऐसे शुद्धपरिणाम हैं। आत्मा के शुद्धपरिणामों के अतिरिक्त, बाह्य में अन्यत्र कहीं धर्म नहीं है और न दूसरा कोई मोक्ष का कारण है। मोह-क्षोभरहित, अर्थात् मिथ्यात्व एवं अस्थिरता से रहित जीव के परिणाम, वह धर्म है, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव, वह धर्म है।

ऐसा है आत्म-स्वभाव.....

आत्म स्वभावम् परभावभिन्नम् आपूर्णमाधन्तविमुक्तमेकम्।
विलीन संकल्प विकल्पजालम् प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति॥

अन्वयार्थ — शुद्धनय, आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप हुआ है। वह शुद्धनय कैसा है ? परद्रव्यों व परभावों से भिन्न है। और कैसा है ? आपूर्ण, अर्थात् समस्तरूप से पूर्ण है। और कैसा है ? आदि और अन्त से रहित, अर्थात् अनादि-अनन्त है। और कैसा है ? एक है। और कैसा है ? संकल्प और विकल्पों से रहित है।

प्रथम बोल का रहस्य —

'मुझ आत्मस्वभाव 'परभावभिन्नम्', अर्थात् परद्रव्यों व परभावों से भिन्न है।'

भावलिङ्गी मुनि को निजात्मा के आश्रय से तीन चौकड़ी कषाय के अभावपूर्वक वीतरागता प्रगट होने से शुद्धनय प्रगट हुआ है। मुनिराज कहते हैं – आत्मस्वभाव, परभावभिन्नम् है, अर्थात् – परद्रव्य हैं, परद्रव्य में गुण हैं, परद्रव्य में पर्यायें हैं, पर के निमित्त से होनेवाले मुझ आत्मा में विभावभाव भी हैं लेकिन मुझ आत्मस्वभाव में इनका प्रवेश नहीं है।

क्या मुझ आत्मा का कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों से सर्वथा सम्बन्ध नहीं है ?

सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। आत्मा और शरीरादि परद्रव्यों की भिन्नता, समस्त आचार्यों ने पुकार-पुकार कर कही है –

1- छहढ़ाला दूसरी ढ़ाल में कहा है —

चेतन को है उपयोग रूप, बिन्मूरत चिन्मूरत अनूप।
पुद्‌गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल॥

अर्थ — मैं, ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ और मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है। आँख, नाक, कान औदारिक आदि शरीरोंरूप मेरी मूर्ति नहीं है। चैतन्य, अरूपी, असंख्यात प्रदेशी, मेरा एक आकार है। सर्वज्ञस्वभावी ज्ञानपदार्थ होने से मुझ आत्मा ही अनुपम है। मुझ आत्मा के अलावा अनन्त जीव, अनन्तानन्त

मङ्गल समर्पण

जीव की अशुद्धपर्याय ही संसार है। अज्ञान के कारण जीव, चार गति में दु:ख भोगता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, तथा भावरूप पाँच परावर्तन करता रहता है किन्तु कहीं शान्ति प्राप्त नहीं करता; इसलिए वास्तव में संसारभाव सर्व प्रकार से साररहित है; उसमें किञ्चित्मात्र सुख नहीं है।
– पण्डित दौलतराम

पुद्गल, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात हैं परन्तु इन सब द्रव्यों से मुझ आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। योगसार में कहा है—

जन्म मरण इकला करे सुख दुख भोगे एक।
नरक गमन पन एकलो, मोक्ष जाये जीव एक॥
यदि जीव तू है एकला तो तज सब परभाव।
ध्यावो आत्मा ज्ञानमय शीघ्र मोक्ष सुख पाव॥

— 'जो निश्चय से ज्ञानात्मक ऐसे अपने को और पर (शरीर) को, निज-निज द्रव्यत्व से संबद्ध (संयुक्त) जानता है, वह मोह का नाश करता है।'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 89)

— 'स्व-पर के विवेक से ही मोक्ष का क्षय किया जा सकता है; इसलिए यदि आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता हो तो जिनमार्ग से गुणों के द्वारा द्रव्यों में स्व और पर को जानो, अर्थात् जिनागम के द्वारा विशेषगुणों से ऐसा विवेक करो कि अनन्त-द्रव्यों में से यह स्व है और यह पर है।'

मोह का क्षय करने के इच्छुक पण्डितजन, आगम द्वारा कथित अनन्त गुणों में से असाधारणगुणों के द्वारा अनन्त द्रव्य परम्परा में यह स्व है और यह परद्रव्य है — ऐसा विवेक करो, जोकि इस प्रकार है—

सत् और अकारण होने से स्वतः सिद्ध, अन्तर्मुख और बर्हिमुख प्रकाशवाला होने से स्व-पर का ज्ञायक, ऐसा जो यह मेरे साथ सम्बन्धवाला मेरा चैतन्य है, उसके द्वारा जो चैतन्य समानजातीय अथवा असमानजातीय अन्य द्रव्य को छोड़कर, मेरे आत्मा में ही वर्तता है, उसके द्वारा — मैं अपने आत्मा को सकल-त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ। इस प्रकार पृथक्रूप से वर्तमान में स्वलक्षणों के द्वारा - जो अन्य द्रव्य को छोड़कर, उसी द्रव्य में वर्तते हैं, उनके द्वारा—आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और अन्य आत्मा को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व धारक द्रव्य के रूप में निश्चित करता हूँ - इसलिये मैं आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्गल नहीं हूँ, और आत्मान्तर नहीं हूँ; इस प्रकार जिसने स्व-पर का विवेक निश्चित किया है — ऐसे इस आत्मा को विकारकारी मोहांकुर का प्रार्दुभाव नहीं होता है।' *(श्री प्रवचनसार, गाथा 90)*

— 'अपने निजरस से जो प्रगट हुई है, जिसका विस्तार अनिवार है तथा

भगवान की ओर के लक्ष्य के समय वस्तुतः तो ज्ञान, भगवान को नहीं जानता, परन्तु भगवान का निर्णय करनेवाली जो ज्ञानसामर्थ्य है, उस ज्ञानसामर्थ्य को ही स्वयं जानता है। जिस ज्ञान के ख्याल में भगवान की सामर्थ्य आयी, उस ज्ञान की सामर्थ्य का जिसे माहात्म्य न आवे, वह अन्तर-सन्मुखता करके भगवान किस प्रकार होगा? स्वरूप-सन्मुख होकर देखे तो प्रत्येक समय अपने ज्ञान का ही स्वयं माहात्म्य करता है; कभी भी पर का माहात्म्य नहीं करता।

मङ्गल समर्पण

समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का जिसका स्वभाव है, ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति के द्वारा ग्रासीभूत किये जाने से, मानों अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों, ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों, इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान् यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव – ये समस्त परद्रव्य, मेरे सम्बन्धी नहीं हैं, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्त्व से परमार्थतः अन्तरङ्ग तत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से, परमार्थतः बाह्य तत्त्वरूपता को छोड़ने के लिये असमर्थ हैं।' *(श्री समयसार, गाथा 57)*

— वास्तव में यह सामान्यरूप से अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान और अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है, वह पर के और अपने अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से और अविशेष रति से समस्त भेद को छिपाकर, ऐसे ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त ऐसे स्व-पर का सामान्य अधिकरण अनुभव करने से मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ — ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है। *(श्री समयसार, गाथा 95)*

प्रश्न – परभावभिन्नम् का रहस्य जानने से क्या होता है ?

उत्तर – परद्रव्य हैं, परद्रव्य में गुण हैं, परद्रव्य में पर्याय हैं, पर के निमित्त होनेवाले मुझ आत्मा की पर्याय में विभावभाव भी हैं लेकिन मुझ आत्मस्वभाव में इनका प्रवेश नहीं है – ऐसा जानते मानते ही शुद्धनय का पता चल जाता है।

प्रश्न – शुद्धनय का पता चलते ही क्या होता है ?

उत्तर – सिद्धदशा क्या है ? सिद्धभगवान क्या करते हैं ? अरहन्तदशा क्या है ? अरहन्त भगवान क्या करते हैं ? श्रेणी में आरूढ़ मुनिदशा क्या है ? मुनिराज क्या करते हैं ? श्रावक-सम्यग्दृष्टिपना क्या है ? श्रावक-सम्यग्दृष्टि क्या करते हैं। अनादि का मिथ्यादृष्टिपना क्या है और चारों गतियों के मिथ्यादृष्टि जीव क्या करते हैं ? आदि सब बातों का निर्णय, शुद्धनय का पता चलते ही हो जाता है।

जो पुरुष, आत्मा को अबद्धस्पष्ट (समस्त परद्रव्यों से भिन्न) देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है। *(श्री समयसार, गाथा 15)*

प्रश्न – अपना परभावभिन्नम् आत्मस्वभाव दृष्टि में क्यों नहीं आता ?

उत्तर – कैलाशचन्द्ररूप शरीरादि परद्रव्यों को, परगुणों को, परपर्यायों को अपना मानने के कारण, अपना स्वभाव, दृष्टि में नहीं आता। कैलाशचन्द्ररूप शरीर, जिसमें स्पर्श की आठ पर्यायें, रस की पाँच पर्यायें, गन्ध की दो पर्यायें, वर्ण

मङ्गल समर्पण

जीव का सदा अपने स्वरूप से एकत्व और पर से विभक्तपना है; इसलिए वह स्वयं ही अपना हित अथवा अहित कर सकता है, पर का कुछ नहीं कर सकता; अतः जीव जो भी शुभ या अशुभभाव करता है, उनका आकुलतारूपी फल वह स्वयं अकेला ही भोगता है। उसमें अन्य कोई स्त्री, पुत्र, मित्रादि सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि वे सब परपदार्थ हैं। वे सब पदार्थ, जीव को ज्ञेयमात्र हैं; इसलिए वे वास्तव में जीव के सगे-सम्बन्धी हैं ही नहीं।

– पण्डित दौलतराम

की पाँच पर्यायें, धर्म–अधर्म–आकाश काल, ये सब परद्रव्य हैं – इन सब परद्रव्यों, इन परद्रव्यों के गुणों, इनकी पर्यायों व इन परद्रव्यों के लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभ विकारीभावों में अपनेपने के श्रद्धान, ज्ञान व आचरण के कारण, निज आत्मस्वभाव दृष्टि में नहीं आता और जीव चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है।

प्रश्न – अपने कल्याण के लिये क्या समझें ?

उत्तर – कैलाशचन्द्ररूप शरीरादि परद्रव्यों, परगुणों व परपर्यायों को अपना मानने के कारण मेरी पर्याय में दोष है, वह एक समय का है, उसमें कर्म निमित्त है; आत्मा नहीं, लेकिन वह विकार मेरा स्वभाव नहीं। शरीर को अपना न मानूँ तो विकार उत्पन्न नहीं होगा और शुद्धनय, आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप हो जायेगा।

दूसरा बोल –

मुझ आत्मस्वभाव 'आपूर्णम्', अर्थात् समस्त प्रकार से परिपूर्ण है।

भावलिङ्गी मुनि को निजात्मा के आश्रय से तीन चौकड़ी कषाय के अभावपूर्वक वीतरागता प्रगट होने से शुद्धनय प्रगट हुआ है। मुनिराज कहते हैं — मुझ आत्मस्वभाव आपूर्ण है, अर्थात् समस्त प्रकार से परिपूर्ण है। निगोद से लेकर सिद्धदशा तक प्रत्येक जीव के पास मौजूद त्रिकाल एकरूप, अकृत्रिम जिन चैत्यालय, अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन, वस्तुरूप आत्मस्वभाव, समस्त प्रकार से परिपूर्ण है। ज्ञान से पूर्ण, दर्शन से पूर्ण, चारित्र से पूर्ण, प्रभुता से पूर्ण, जो कुछ चाहिए सब मेरे आत्मस्वभाव में है। अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड मैं स्वयं हूँ।

मुझमें कितने अनन्त गुण हैं ?

जीव अनन्त, जीव से अनन्तगुने पुद्गल, पुद्गल से अनन्तगुने अधिक तीन काल के समय, तीन काल के समयों से अनन्तगुना अधिक आकाश के प्रदेश, आकाश के प्रदेशों से अनन्तगुना अधिक मुझ आत्मा में गुण हैं।

जिस समय शरीर को अपना नहीं माना, उसी समय आपूर्ण आत्मस्वभाव प्रगट हो जाता है। वैसे तो प्रतिक्षण अपना स्वभाव मुझे प्रत्यक्ष ही है। श्री समयसार की 17-18 गाथा में आचार्य भगवान फरमाते हैं कि आबाल-गोपाल सभी को अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।

जिस जीव ने सिद्धभगवान का निर्णय किया और अपने वैसे परिपूर्ण स्वभाव का निर्णय किया, उस जीव को स्वभाव प्रसन्न होता है। जहाँ स्वभाव को निर्णय में लिया, वहाँ पूर्ण स्वभाव प्रसन्न होकर कहता है कि माँग! माँग!! जो दशा चाहिए वह देने को तैयार हूँ। तुझसे हुआ जा सके उतना हो; जितनी हद तक होना हो, उतनी हद तक हो; पूरा सिद्धपद माँग! मैं इसी क्षण वह तुझे दूँगा... इस प्रकार जिस पर्यायरूप स्वयं होना चाहता है, वह पर्याय, स्वभाव में से प्रगट हो सकती है।

निज आत्मस्वभाव प्रत्यक्ष होते हुए भी पर्याय में प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?

कैलाशचन्द्र शरीर, जिसमें स्पर्श की आठ पर्यायें, रस की पाँच पर्यायें, गन्ध की दो पर्यायें, वर्ण की पाँच पर्यायें और सात प्रकार की आवाज; समानजातीय द्रव्यपर्यायें, असमानजातीय-द्रव्यपर्यायें, धर्म, अधर्म, आकाश, काल जिनसे कि मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है - इन सब परद्रव्यों से अपना सम्बन्ध मानने के कारण ही स्वयं, स्वयं को प्रत्यक्ष नहीं होता।

अपने कल्याण के लिये क्या करना ?

जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाए, वह जीवतत्त्व मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है, वे सब अजीवतत्त्व हैं, जानने योग्य हैं; उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा निर्णय होते ही आपूर्ण स्वभाव पर दृष्टि आ जाती है और मोक्षमार्ग प्रारम्भ होकर, क्रम से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

— मुझ आत्मा, ज्ञान से पूर्ण है — इसका रहस्य क्या है ?

(1) जीव अनन्त, (2) जीव से अनन्त पुद्गल, (3) पुद्गल से अनन्त तीन काल के समय, (4) तीन काल के समय से अनन्त आकाश के प्रदेश, (5) आकाश के प्रदेशों से अनन्तगुणा अधिक एक द्रव्य में गुण, (6) एक द्रव्य के गुणों से अनन्त सब द्रव्यों के गुण, (7) सब द्रव्यों के गुणों से अनन्त सब द्रव्यों की पर्यायें, (8) सब द्रव्यों की पर्यायों से अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं :— इस प्रकार विश्व में 8 नं० तक ज्ञेय हैं।

मुझ आत्मा में केवलज्ञान की शक्ति है। इस केवलज्ञान शक्तिरूप पर्याय में आठ नं० तक का विश्व एक समय में ज्ञेय हो सकता है और ऐसे-ऐसे अनन्त विश्व हों तो भी एक समय में ज्ञेयरूप हो सकते हैं तो इस केवलज्ञान एक समय की पर्याय की ताकत का क्या कहना!

केवलज्ञान एक बार प्रारम्भ होने पर, सादि-अनन्त काल के लिये केवलज्ञान-केवलज्ञान चलता ही रहता है; कभी रुकता नहीं है, एक समय के लिये भी। ये कभी न रूकनेवाली केवलज्ञान पर्याय किसमें से आती है ? मेरे ज्ञानगुण में से! तो ज्ञानगुण की ताकत का क्या कहना!

ज्ञान जैसे कितने गुण ? अनन्त गुण! उन अनन्त गुणों का मालिक कौन ? मुझ आत्मा। तो मुझ आत्मा की आपूर्ण स्वभाव का क्या कहना ?

ज्ञान से पूर्ण आत्मस्वभाव का रहस्य क्या है ?

मङ्गल समर्पण

जिस प्रकार दूध और पानी एक आकाशक्षेत्र में मिले हुए होने पर भी, अपने-अपने गुण आदि की अपेक्षा से सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार यह जीव और शरीर भी मिले हुए, अर्थात् एकाकार दिखायी देते हैं, तथापि दोनों अपने-अपने स्वरूपादि की अपेक्षा से; अर्थात्, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं, तो फिर प्रगटरूप से भिन्न दिखायी देनेवाले मोटर-गाड़ी, धन, मकान, बाग, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि अपने साथ एकमेक कैसे हो सकते हैं ?

- पण्डित दौलतराम

मतिज्ञान है, श्रुतज्ञान है, अवधिज्ञान है, मन:पर्ययज्ञान है, केवलज्ञान है लेकिन मुझ ज्ञान से परिपूर्ण आत्मस्वभाव में मतिज्ञानादि का प्रवेश नहीं — ऐसा जानते-मानते ही कुमति, कुश्रुत का अभाव होकर, सुमति, सुश्रुत की प्राप्ति होकर, क्रम से केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

सुमति, सुश्रुत की प्राप्ति होते ही क्या होता है ?

मति, श्रुत, अवधि, मन:, केवल सबहि एक ही पद जु है।
वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ती लहै॥

(श्री समयसार, गाथा 204)

गाथार्थ - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान — ये एक ही पद है क्योंकि ज्ञान के समस्त भेद, ज्ञान ही हैं — वह यह परमार्थ है। शुद्धनय का विषयभूत ज्ञानसामान्य ही यह परमार्थ है — जिसे प्राप्त करके आत्मा, निर्वाण को पाता है।

1- ऐसे शुद्धनय के विषयभूत निज ज्ञानसामान्य के आश्रय से ही निजपद की प्राप्ति होती है।

2 शुद्धनय के विषयभूत निज ज्ञानसामान्य के अवलम्बन से ही भ्रान्ति का नाश होता है।

3- शुद्धनय के विषयभूत निज ज्ञानसामान्य के अवलम्बन से ही आत्मा का लाभ होता है।

4- शुद्धनय के विषयभूत निज ज्ञानसामान्य के अवलम्बन से ही (अनात्मा) अजीवतत्त्व का परिहार सिद्ध होता है।

5- शुद्धनय के विषयभूत ज्ञानसामान्य के अवलम्बन से ही कर्म बलवान नहीं होते।

6- शुद्धनय के विषयभूत ज्ञानसामान्य के अवलम्बन से ही राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, अर्थात् आस्रव उत्पन्न नहीं होता।

7- शुद्धनय के विषयभूत ज्ञानसामान्य के अवलम्बन से ही पुन: कर्मास्रव नहीं होता, अर्थात् संवर उत्पन्न होता है।

8- शुद्धनय के विषयभूत ज्ञानसामान्य के अवलम्बन से ही पुन: कर्मबन्ध नहीं होता, अर्थात् बन्ध का अभाव होता है।

प्रत्येक जीव, यद्यपि अपनी ही पर्याय की सामर्थ्य को जानता है परन्तु उसे अपने ज्ञान का भरोसा नहीं आता; इसलिए वह पर का बहुमान करने में रुकता है और स्व को भूल जाता है परन्तु 'मैं मेरी ज्ञानसामर्थ्य को जानता हूँ, मैं पर को वास्तव में नहीं जानता और मेरी ज्ञानसामर्थ्य तो परिपूर्ण है।' इस प्रकार स्व की महिमा आवे तो किसी पर की महिमा नहीं आये।

9- शुद्धनय के विषयभूत ज्ञानसामान्य के अवलम्बन से ही पूर्वबद्ध कर्म भुक्त होकर, निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

10- शुद्धनय के विषयभूत ज्ञानसामान्य के अवलम्बन से ही फिर समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है।

प्रश्न - शुद्धनय के विषयभूत निज ज्ञानसामान्य का आश्रय लेना कैसे बने?

उत्तर - जिनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसे कैलाशचन्द्ररूप, समानजातीय-असमानजातीय द्रव्यपर्यायें, धर्म-अधर्म आकाश काल आदि परद्रव्यों से अपना सम्बन्ध न माने, अर्थात् मुझ आत्मा ज्ञायक और सारा विश्व व्यवहार से मेरे ज्ञान का ज्ञेय — ऐसा निर्णय करते ही शुद्धनय के विषयभूत निज ज्ञान सामान्य का आश्रय बन जाता है।

तीसरा बोल —

आदि-अन्त विमुक्तं, अर्थात् मुझ आत्मा आदि और अन्त से रहित, अनादि-अनन्त है।

भावलिङ्गी मुनि को तीन चौकड़ी कषाय के अभावपूर्वक वीतरागता प्रगट होने से शुद्धनय प्रगट हुआ है। मुनिराज कहते हैं — मुझ आत्मा अनादि-अनन्त है, अर्थात् आदि और अन्त से रहित है। 'है' की आदि क्या? 'है' का अन्त क्या? 'है' में अपूर्णता कैसी? 'है' में विकार कैसा? वस्तु है तो, परन्तु जब नजर डालो तभी है।

अनादि-अनन्त का रहस्य क्या है?

औपशमिकभाव है, क्षायिकभाव है, क्षायोपशमिकभाव है, औदयिकभाव है परन्तु मुझ पारिणामिकभाव में इनका प्रवेश नहीं —ऐसा जानते-मानते ही औदयिकभाव भागने शुरू हो जाते हैं; औपशमिकभाव की प्राप्ति होकर, धर्म के क्षयोपशमभाव की प्राप्ति होकर, क्रम से पूर्ण क्षायिकभाव की प्राप्ति होती है।

औपशमिकक्षायिकों भावौं मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्वमौदयिपारिणामिकौ च॥ *(तत्त्वार्थसूत्र, दूसरा अध्याय 1 सूत्र)*

अर्थ — जीव के औपशमिक और क्षायिकभाव, मिश्र (क्षायोपशामिक) तथा औदयिक और पारिणामिक - यह पाँच भाव, निज भाव हैं, अर्थात् जीव के अतिरिक्त दूसरे में नहीं होते।

मङ्गल समर्पण

यह शरीर तो माँस, रक्त, पीव, विष्टा आदि की थैली है और हड्डियाँ, चरबी आदि से भरा होने के कारण अपवित्र है तथा इसके नौ द्वारों से निरन्तर मैल बाहर निकलता रहता है। ऐसे शरीर के प्रति मोह-राग कैसे किया जा सकता है? यह शरीर, ऊपर से मक्खी के पंख के समान पतली चमड़ी से मढ़ा हुआ है; इसलिए बाहर से तो सुन्दर लगता है किन्तु यदि उसकी भीतरी स्थिति का विचार किया जाए तो उसमें अति अपवित्र वस्तुएँ भरी हैं; इसलिए उसमें ममत्व, अहङ्कार या राग करना व्यर्थ है।

- पण्डित दौलतराम

औपशमिकभाव क्या है ?

जीव के जिस भाव में कर्म का उपशम निमित्त हो, उसे औपशमिकभाव कहते हैं। औपशमिक के दो भेद हैं — औपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र। औपशमिकभाव, श्रद्धा और चारित्रगुण का क्षणिक एक समय का स्वभावपरिणाम है। सादि-सान्त भाव है।

'आत्मा के पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धता का प्रगट न होना, अर्थात् दब जाना। आत्मा के इस भाव को औपशमिकभाव कहते हैं। यह जीव की एक समयमात्र की पर्याय है, वह एक-एक समय करके अन्तर्मुहुर्त तक रहती है, किन्तु एक समय में एक ही अवस्था होती है और उसी समय आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर, जड़कर्म का प्रगटरूप फल जड़कर्म में न आना, सो कर्म का उपशम है।'

(श्री मोक्षशास्त्र, अध्याय दूसरा)

'उपशम से युक्त वह औपशमिक है।' *(श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 56)*

क्षायिकभाव क्या है ?

जीव के जिस भाव में कर्म का क्षय निमित्त हो, उसे क्षायिकभाव कहते हैं।

'आत्मा के पुरुषार्थ से किसी गुण की शुद्धदशा का प्रगट होना, सो क्षायिकभाव है। यह भी जीव की एक समयमात्र की अवस्था है। एक-एक समय करके सादि-अनन्त रहती है। आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर, कर्म का नाश हो जाना, अर्थात् जीव से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध हट जाना, सो कर्म का क्षय है।' *(श्री तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ 178)*

क्षायोपशमिकभाव किसे कहते हैं ?

जीव के जिस भाव में कर्म का क्षयोपशम निमित्त हो, उसे क्षयोपशमभाव कहते हैं।

आत्मा के पुरुषार्थ का निमित्त पाकर, जो कर्म का स्वयं आंशिक क्षय और आंशिक उपशम, वह कर्म का क्षयोपशम है और क्षायोपशमिकभाव आत्मा की पर्याय है। यह भी आत्मा की एक समय की अवस्था है।

औदयिकभाव किसे कहते हैं ?

जीव के जिस भाव में कर्म का उदय निमित्त हो, उसे औदयिकभाव कहते हैं।

जगत में तीनों काल-तीनों लोक के (लोकालोक सर्व के) ज्ञाता सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त परमात्मा का कभी विरह नहीं होता। जगत में यदि 'ज्ञेय' सदा है तो उसको पूर्णरूप से जाननेवाले और जानकर दिव्यध्वनि द्वारा बतलानेवाले सशरीर परमात्मा भी सदा होते हैं; उनका विरह कभी नहीं हो सकता। भले ही वर्तमान में भरतक्षेत्र में तीर्थङ्कर नहीं हैं परन्तु विदेहक्षेत्र में तो सदा होते हैं।

देखो! यह जीव, करोड़ों रुपये की आमदनीवाला सेठ तो अनन्त बार हुआ है और अनन्त बार ही घर-घर जाकर भीख माँगकर पेट भरनेवाला भिखारी भी हुआ है; आत्मा के भान बिना पुण्य करके बड़ा देव भी अनन्त बार हुआ है और पाप करके नारकी भी अनन्त बार हुआ है परन्तु अभी भी इसे भवभ्रमण से थकान नहीं लगती है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

कर्मों के निमित्त से आत्मा अपने में जो विकार करता है, वह औदयिकभाव है। *(श्री तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ 179)*

औदयिकभाव के 21 भेद हैं – 4 गतिभाव, 3 लिंगभाव, 1 अज्ञानभाव, 1 मिथ्यादर्शनभाव, 1 असंयमभाव, 1 असिद्धत्वभाव, 4 कषायभाव, 6 लेश्याभाव

पारिणामिकभाव किसे कहते हैं ?

कर्मों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम अथवा उदय की अपेक्षा रखे बिना, जीव का जो स्वभावमात्र हो, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं।

'जिसका निरन्तर सद्‌भाव रहे, उसे पारिणामिकभाव कहते हैं। सर्व भेद जिसमें गर्भित हैं, ऐसा चैतन्यभाव ही जीव का पारिणामिकभाव है।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 194)

'पारिणामिक' का अर्थ है सहजस्वभाव; उत्पाद-व्यय रहित ध्रुव, एकरूप स्थिर रहनेवाला भाव, पारिणामिकभाव है। पारिणामिकभाव सभी जीवों के सामान्य होता है। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, इन चारों भावों से रहित जो भाव, वह पारिणामिकभाव है।

ये पाँच भाव क्या बताते हैं :-

1- पारिणामिकभाव यह बताता है कि मैं भगवान हूँ।

2- औदयिकभाव बताता है कि भगवान होने पर भी मेरी पर्याय में एक समय का दोष है। इस दोष में कर्म निमित्त है, लेकिन कर्म, विकार नहीं कराता।

3- क्षायोपशमिकभाव बताता है कि जीव चाहे जितना भी विकार कर ले लेकिन सर्वथा विकाररूप या जड़रूप नहीं हो जाता, क्योंकि उसको ज्ञान-दर्शन-वीर्य का क्षयोपशम तो सदैव बना ही रहता है।

3- वर्तमान में हमें इतना ज्ञान का क्षयोपशम है कि मैं भगवान हूँ, मेरी पर्याय में दोष है, वह एक समय का है, मेरी मूर्खता के कारण है; पर ने नहीं कराया है — ऐसा निर्णय करके स्वयं की पहचान कर सकूँ। यह पात्र जीव की अपेक्षा बात है।

4- मैं भगवान हूँ, मेरी पर्याय में मेरी मूर्खता से एक समय का दोष है; कर्म निमित्त है, कर्म ने विकार नहीं कराया — जिस क्षण जीव ऐसा निर्णय करके आत्मा का आश्रय लेता है, उसी समय धर्म का प्रारम्भ हो जाता है — यह औपशमिकभाव बताता है।

यदि जीव अप्रतिहतभाव से आगे बढ़े तो उपशमचारित्र प्रगट होता है — ऐसा भी औपशमिकभाव बताता है।

5- अप्रतिहत पुरुषार्थ द्वारा पारिणामिकभाव में पूर्ण स्थिर होने पर, विकार का सर्वथा नाश हो जाता है — ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

चौथा बोल :- एकम्

मुझ आत्मा कैसा है ? मुझ आत्मा एक है।

'एकम्' स्वभाव का क्या रहस्य है ?

मुझ आत्मा, ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, अचल व निरालम्ब होने से एक है; एक है तो शुद्ध है; शुद्ध है तो ध्रुव है; ध्रुव होने से एकमात्र निजात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है।

शरीर, धन, सुख-दुख, शत्रु-मित्रजन अनेक हैं; अनेक हैं तो अशुद्ध हैं; अशुद्ध होने से अध्रुव हैं; अध्रुव होने से ये सब उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं।

— ऐसा जानते-मानते ही अनेक, अशुद्ध, अध्रुव से दृष्टि हटकर, एक, शुद्ध, ध्रुवरूप निजात्मा पर दृष्टि आ जाती है।

प्रवचनसार से एकम् का रहस्य —

प्रवचनसार, श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने किसके निमित्त लिखा है ?

श्री प्रवचनसार के कलश तीन में कहा है :- परमानन्दरूपी सुधारस के पिपासु भव्य जीवों के हितार्थ, तत्त्व को (वस्तुस्वरूप को) प्रगट करनेवाली प्रवचनसार की यह टीका रची जा रही है।

जिनके संसारसमुद्र का किनारा निकट है, जिन्हें सातिशय (उत्तम) विवेकज्योति प्रगट हो गयी है, अर्थात् परम भेदविज्ञान का प्रकाश उत्पन्न हो गया है, ऐसे आसन्नभव्य जीवों के लिये यह वस्तुस्वरूप है।

परमभेदविज्ञान क्या है ?

शरीर, धन, सुख-दु:ख, शत्रु मित्रजन अनेक हैं, ये कुछ जीव के ध्रुव नहीं हैं; ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है।

शरीर, धन, सुख-दु:ख, शत्रु-मित्रजन अनेक हैं; अनेक हैं तो अशुद्ध हैं; अशुद्ध हैं तो अध्रुव हैं, अध्रुव होने से ये उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं। और -

मुझ आत्मा ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, इन्द्रियों के बिना ही सबको जाननेवाला

आत्मा की मुक्ति का मार्ग, अत्यन्त अन्तर्मुख है; उसमें समस्त रागादि बाह्यभावों का अत्यन्त अभाव है। जो उपयोग, आनन्दस्वरूप निज परमात्मतत्त्व में जुड़कर अन्तर्मुख हुआ, उसमें समस्त रागादि परभावों का अभाव है। अहो! उस अन्तर्मुखपरिणति में दु:ख नहीं है, भव नहीं है, द्वैत नहीं है; वह तो आनन्दरूप है, मुक्त है क्योंकि वह आनन्दमय कारणपरमात्मा के साथ जुड़ी हुई है।

मङ्गल समर्पण

अतीन्द्रिय महापदार्थ, ज्ञेय पर पर्यायों का ग्रहण-त्याग न करने से अचल, ज्ञेय परद्रव्यों का आलम्बन न लेने से निरालम्ब है; इसलिए मुझ आत्मा एक है; एक होने से शुद्ध है; शुद्ध होने से मुझ आत्मा ही ध्रुव है; ध्रुव होने से एकमात्र मुझ आत्मा ही उपलब्ध करने योग्य है। अध्रुवपने के कारण, आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य नहीं है।

— शरीर, धन आदि को अपना मानने का क्या फल है ?

श्री प्रवचनसार, गाथा 190 में कहा है कि जो देह, धनादि में 'यह मैं हूँ और ये मेरे हैं' — ऐसी ममता को नहीं छोड़ता, वह श्रमणता को छोड़कर, उन्मार्ग का आश्रय लेता है। (अर्थात्, जो देह, धनादि को अपना मानता है, उसे कभी धर्म नहीं होता और चारों गतियों में घूमकर निगोद चला जाता है।)

— शरीरादि से सर्वथा भिन्न निजात्मा में अपनापना मानने का फल क्या है ?

1- शरीर, धन, सुख, शत्रु-मित्रजन अनेक हैं; अनेक हैं तो अशुद्ध हैं; अशुद्ध होने से अध्रुव है; और अध्रुव होने से ये उपलब्ध करने योग्य नहीं है और मुझ आत्मा एक है; एक है तो शुद्ध है; शुद्ध होने से ध्रुव है और ध्रुव होने से निजात्मा ही एकमात्र उपलब्ध करने योग्य है — जो ऐसा मानता है, उसे निज शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

यही श्री प्रवचनसार, गाथा 191 में कहा है :-

मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरा नहीं है; मैं एक ज्ञान हूँ, इस प्रकार जो ध्यान करता है, वह ध्याता ध्यानकाल में आत्मा होता है।

टीका :- 'जो मैं, पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं; इस प्रकार स्व-पर के परस्पर स्व-स्वामी सम्बन्ध को छोड़कर, शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ, इस-प्रकार अनात्मा को छोड़कर (शरीरादि में आत्मबुद्धि छोड़कर), आत्मा को ही आत्मरूप से ग्रहण करके, परद्रव्य से भिन्नत्व के कारण आत्मारूप ही एक अग्र में चिन्ता को रोकता है, उस समय वास्तव में शुद्धात्मा होता है। इससे निश्चित होता है कि शुद्धनय से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।'

(2) शरीर, धन, सुख-दुःख, शत्रु-मित्रजन अनेक हैं; अनेक हैं तो अशुद्ध हैं; अशुद्ध होने से अध्रुव हैं; अध्रुव होने से ये उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं और मुझ आत्मा एक है; एक है तो शुद्ध है; शुद्ध होने से ध्रुव हैं; ध्रुव होने से

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! 'अब मुझे भव नहीं चाहिए' - इस प्रकार यदि तुझे भवभ्रमण से थकान लगी हो तो आत्मा की प्रीति करके उसका स्वरूप समझ! इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

निजात्मा ही एकमात्र उपलब्ध करने योग्य है, जो ऐसा मानता है, उसकी मोह दुर्ग्रन्थि का नाश हो जाता है।

यही श्री प्रवचनसार, गाथा 194 में कहा है :-

जो ऐसा जानकर (मुझ आत्मा एक है और शरीरादि अनेक हैं आदि) विशुद्धात्मा होता हुआ, परम आत्मा का ध्यान करता है, वह साकार हो या अनाकार, मोह दुर्ग्रन्थि का क्षय करता है।

टीका :- इस यथोक्त विधि (मुझ आत्मा एक है और शरीरादि अनेक हैं आदि) के द्वारा जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे उसी में प्रवृत्ति के द्वारा शुद्धात्मत्व होता है, अनन्त शक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्र संचेतन लक्षण ध्यान होता है और अनादि संसार से बँधी हुई अतिदृढ़ मोह दुर्ग्रंथि छूट जाती है (मोह की दुष्ट गाँठ टूट जाती है।)

(3) शरीर, धन, सुख-दुख, शत्रु-मित्रजन अनेक हैं; अनेक हैं तो अशुद्ध हैं; अशुद्ध होने से अध्रुव हैं; अध्रुव होने से ये उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं और मुझ आत्मा एक है; एक है तो शुद्ध है; शुद्ध होने से ध्रुव है; ध्रुव होने से एकमात्र निज आत्मा ही उपलब्ध करने योग्य है — जो ऐसा निर्णय करता है, उसे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

यही श्री प्रवचनसार, गाथा 195 में कहा है :-

प्रश्न - मोह ग्रन्थि का क्षय करने से क्या फल होता है?

उत्तर - मोह ग्रन्थि के क्षय कर देने से अक्षय सौख्यरूप फल होता है।

जो मोहग्रन्थि को नष्ट करके, राग-द्वेष को क्षय करके, सम सुख-दु:ख होता हुआ, श्रमणता में परिणमित होता है, वह अक्षय सौख्य को प्राप्त करता है।

'अनिन्द्रिय और इन्द्रियातीत हुआ आत्मा, सर्व बाधारहित और सम्पूर्ण आत्मा में समंत, परिपूर्ण सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध वर्तता हुआ, परम सौख्य का ध्यान करता है।'

(श्री प्रवचनसार, गाथा 198)

(4) शरीर, धन, सुख, दु:ख, शत्रु-मित्रजन अनेक हैं; अनेक हैं तो अशुद्ध हैं; अशुद्ध होने से अध्रुव है; अध्रुव होने से उपलब्ध करने योग्य नहीं हैं और मुझ आत्मा एक है; एक है तो शुद्ध है; शुद्ध है तो ध्रुव है; ध्रुव होने से एकमात्र निजात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है — ऐसा जानते-मानते ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है,

अरे! यदि चेतनारूप परिणति में चैतन्यप्रभु नहीं आवे तो उसे चेतन-परिणति कौन कहेगा? जिस प्रकार सिद्ध भगवान, राग में नहीं रहते, अपने स्वभाव में ही रहते हैं; उसी प्रकार साधक की अन्तर्मुखपरिणति भी, रागादि परभावों में नहीं वर्तती; वह तो परमतत्त्व के आनन्द से भरपूर है।

मोह ग्रन्थि का नाश होता है, अक्षय सुख की प्राप्ति होती है और फिर सादि अनन्त काल तक एक-एक करके तमाम विश्व की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को एक समय में परिपूर्णरूप से स्पष्ट और एक साथ जानते हैं।

यही श्री प्रवचनसार, गाथा 200 में कहा है :-

'प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व के साथ भी सहज ज्ञेय -ज्ञायक लक्षण सम्बन्ध ही है, किन्तु अन्य स्व-स्वामि लक्षणादि सम्बन्ध नहीं है; इसलिए मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है। अब, एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूहवाले, अगाध स्वभाव और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को, मानों वे द्रव्य, ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों, इस प्रकार एक क्षण में ही जो प्रत्यक्ष करता है।'

'(स्व-पर का भेदविज्ञान करनेवाला) आत्मा, ब्रह्म को-सिद्धत्व को शीघ्र प्राप्त करके, असीम (अनन्त) विश्व को शीघ्रता से (एक समय में) ज्ञेयरूप करता हुआ, भेदों को प्राप्त ज्ञेयों को ज्ञानरूप करता हुआ (अनेक प्रकार के ज्ञेयों को ज्ञान में जानता हुआ और स्व-पर प्रकाशक ज्ञान को आत्मारूप करता हुआ, प्रगट दैदीप्यमान होता है।)' *(श्री प्रवचनसार, श्लोक 17)*

दसवें कलश का पाँचवा बोल - 'विलीन संकल-विकल्प जालं'

मुझ आत्मा, संकल्प-विकल्पजालों से रहित है।

भावलिङ्गी मुनि को तीन चौकड़ी कषाय का अभाव होने से वीतरागता प्रगट हुयी है। मुनिराज कहते हैं कि मुझ आत्माा 'विलीन संकल्प-विकल्प जालं' है, अर्थात् मुझ आत्मा, संकल्प-विकल्पों से रहित है।

विलीन संकल्प-विकल्प जालम् का क्या रहस्य है ?

दर्शनमोहनीय का उदय है, संकल्प पर्याय में हैं; चारित्रमोहनीय का उदय है, विकल्प पर्याय में हैं — लेकिन मुझ संकल्प-विकल्परहित आत्मस्वभाव में इन संकल्प-विकल्पों का प्रवेश नहीं है - ऐसा जानने-मानते ही संकल्प-विकल्पों का अभाव हो जाता है।

मोक्ष होने की योग्यता इस आत्मा में ही भरी है। शक्तिरूप से यह आत्मा ही परमात्मा है। **'अप्पा सो परमप्पा'**, अर्थात् आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है। उसका भान करके आत्मा स्वयं ही प्रगटरूप परमात्मा हो जाता है। यह सब इस मनुष्यभव में ही हो सकता है और इसीलिए ज्ञानियों ने मानवदेह को उत्तम कहा है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

संकल्प किसे कहते हैं ?

1— शरीरादि परद्रव्यों में, शरीरादि परद्रव्यों के कार्यों में अपनेपने का श्रद्धान, संकल्प है। संकल्प कहो, मिथ्यात्व कहो — एक ही बात है।

2— 'नोकर्म कर्म जु मैं अबरू, मैं में कर्म नोकर्म हैं।

ये बुद्धि जब तक जीव की, अज्ञानी तब तक वो रहें॥

श्री समयसार, गाथा 19

अर्थात्, जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और 'मुझमें ये कर्म-नोकर्म हैं' — ऐसी बुद्धि रहती है, तब तक अप्रतिबद्ध रहता है।'

3— 'आत्मा तो शुद्ध, पवित्र, आनन्दघनरूप है और व्यवहार या शुभभाव तो जड़स्वभावी, अशुद्ध, अपवित्र और दुःखरूप है, इससे आत्मा, राग है या राग, आत्मा है — ऐसी एकपने की मान्यता भ्रम है, संकल्प है।'

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग 1 पृष्ठ 326)

4— 'अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि-निधन वस्तुरूप निज आत्मा का पता न होने से, मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों से रहित, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण सहित, नवीन जिनका संयोग हुआ है, ऐसे कैलाशचन्द्र शरीरादि को अपना मानना, संकल्प है।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 38)

5— 'अन्तरङ्ग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभावी निज ज्ञायक भगवान आत्मा का पता न होने से, बहिरङ्ग में प्रगट अति स्थूल जड़स्वभावी जड़ इन्द्रियों को अपना मानना, संकल्प है।' *(श्री समयसार गाथा 31)*

प्रश्न – संकल्प-विकल्पों का नाश होकर, संकल्प-विकल्प जालरहित निज आत्मस्वभाव का आश्रय लेना कैसा बने ?

उत्तर – कैलाशचन्द्र शरीर, जिसमें स्पर्श की आठ, रस की पाँच, गन्ध की दो, वर्ण की पाँच और सात प्रकार की आवाज, समानजातीय-असमानजातीय द्रव्य पर्यायें, धर्म-अधर्म-आकाश-काल – इन सब परद्रव्यों से मुझ आत्मा का किसी भी अपेक्षा किसी भी प्रकार का कर्ता-भोक्ता का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानते-मानते ही संकल्प-विकल्प उत्पन्न ही नहीं होंगे।

विकल्प क्या है –

चैतन्य की परिणति का अपने कारणपरमात्मा के साथ ही मेल खाता है, इसके अतिरिक्त दुनिया के प्रपञ्च के साथ उसका मेल खाता ही नहीं; इसलिए कदाचित् दुनिया के कोई अज्ञानी जीव, तेरे सत्यमार्ग की निन्दा करे तो भी तू सत्यमार्ग के प्रति परमभक्ति अथवा उत्साह का त्याग मत करना।

ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद मालूम पड़ना, विकल्प है।

विकल्प कहो, राग-द्वेष कहो — एक ही बात है।

अज्ञानी किस प्रकार के विकल्प करता है ?

कैलाशचन्द्र शरीरादि परद्रव्यों में 'यह मैं और ये मेरे; ये मेरा भूतकाल में था, मैं इनका भूतकाल में था; ये मेरे भविष्य में होंगे, मैं इनका भविष्य में होऊँगा' — मूढ़ जीव इस प्रकार के अयथार्थ आत्मविकल्प करता है — जिसके फलस्वरूप चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है।

संकल्प-विकल्पों का नाश होने पर क्या होता है ?

पञ्च परमेष्ठियों में गिनती होने लगती है और मोक्ष का पथिक बन जाता है।

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

दिनाँक 7-10-1998

निश्चय-व्यवहार

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार की भूमिका —

इस भवतरू का मूल इक जानहु मिथ्याभाव।
ताकौं करि निर्मूल अब करिये मोक्ष उपाय॥

प्रश्न – संसाररूपी वृक्ष का मूलकारण क्या है ?

उत्तर – संसाररूपी वृक्ष का मूलकारण एकमात्र मिथ्याभाव है।

प्रश्न – मिथ्याभाव से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र।

प्रश्न – मिथ्यादर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर – मैं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ — इस रहस्य का पता न होने से, मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा श्रद्धान, मिथ्यादर्शन है।

प्रश्न – मिथ्याज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – मैं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ — इस रहस्य का पता न होने से, मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा ज्ञान, मिथ्याज्ञान है।

अरे रे! मुझे कहाँ तक यह जन्म-मरण करने हैं। इस भवभ्रमण का कहीं अन्त है या नहीं ? इस प्रकार जब तक चौरासी के अवतार का भय नहीं होता, तब तक आत्मा की प्रीति नहीं होती। 'भय बिना प्रीति नहीं', अर्थात् भव-भ्रमण का भय हुए बिना, आत्मा की प्रीति नहीं होती। सच्ची समझ ही विश्राम है। अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए कहीं विश्राम प्राप्त नहीं हुआ है। अब सच्ची समझ करना ही आत्मा का विश्राम है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

प्रश्न – मिथ्याचारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर – मैं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ — इस रहस्य का पता न होने से, मैं कैलाशचन्द्र हूँ — ऐसा ही आचरण, मिथ्याचारित्र है।

प्रश्न – मैं ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ — इस रहस्य का पता न होने से, कैलाशचन्द्र में अपनेपने का श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप मिथ्याभाव का फल क्या है ?

उत्तर – ऐसे श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप मिथ्याभावों के कारण ही, मैं अनादि काल से संसार में जन्म-मरण के दुःखों को भोग रहा हूँ।

प्रश्न – इन मिथ्याभावों का क्या करना ?

उत्तर – इन मिथ्याभावों का फल तो संसार में परिभ्रमण है; अतः इन मिथ्याभावों को निर्मूल करके, संसार का अभाव करके, मोक्ष का उपाय करना चाहिए।

प्रश्न — मिथ्यात्व के कितने प्रकार हैं और उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर — दो प्रकार हैं — 1- स्थूल मिथ्यात्व, 2- सूक्ष्म मिथ्यात्व।

स्थूल मिथ्यात्व – सच्चे-देव-गुरु-शास्त्र के विषय में भूल।

सूक्ष्म मिथ्यात्व – 1- प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में विपरीतता;
2- निश्चय-व्यवहार में विपरीतता;
3- चारों अनुयोगों की कथन पद्धति का पता न होना।

प्रश्न – संसार के कारणरूप मिथ्याभावों का अभाव कैसे हो और मोक्ष का उपाय कैसे बने ?

उत्तर – जिस समय स्वयं को शरीर से भिन्न माना, उसी समय इन मिथ्याभावों का अभाव हो जायेगा और मोक्ष का प्रारम्भ हो जायेगा, अर्थात् जीव-अजीव का भेदज्ञान होते ही मोक्ष का प्रारम्भ हो जायेगा।

प्रश्न – जीव-अजीव का भेदज्ञान होते ही मोक्ष का प्रारम्भ कैसे हो जायेगा ?

उत्तर – सम्पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना, मोक्षतत्त्व है। मोक्ष, संवर-निर्जरापूर्वक होता है। शुद्धि का प्रगट होना, संवर है और शुद्धि की वृद्धि, निर्जरा

अहा...! यही मेरे सुख का मार्ग है - इस प्रकार परम निःशङ्करूप से अन्तर में अपने मार्ग में चले जाना। अन्तर का मार्ग, बाह्य शुभाशुभरागरूप प्रपञ्च में अटके हुए जीवों को प्राप्त नहीं होता। दुनिया, दुनिया में रहो; मेरा मार्ग तो मुझमें समाहित है। चैतन्य-चमत्कार की भक्ति द्वारा आत्मा, मुक्ति प्राप्त करता है। आत्मा, महाशुद्ध रत्नत्रयस्वभावी है, उसमें अपने को सम्यक्परिणाम द्वारा स्थापित करना ही मुक्ति की कारणरूप निश्चयभक्ति है।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

आत्मार्थी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिए इतनी गरज है कि दूसरे लोग मान-अपमान करें, उसके समक्ष देखता भी नहीं है। मुझे तो अपनी आत्मा को रिझाना है, मुझे जगत् को नहीं रिझाना है; इस प्रकार जगत् की अपेक्षा उसे आत्मा प्रिय लगा है, आत्मा से जगत् प्रिय नहीं है - ऐसी आत्मा की लगन के कारण वह जगत् के मान-अपमान को नहीं गिनता है। मुझे स्वयं समझकर अपनी आत्मा का हित साधना है - ऐसा ही लक्ष्य है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

है। संवर-निर्जरा, आस्रव-बन्ध के अभावपूर्वक होते हैं। शुभाशुभ-विकारीभावों का उत्पन्न होना, आस्रव है और शुभाशुभ विकारीभावों में अटकना, बन्ध है। आस्रव-बन्ध, अजीवतत्त्व के निमित्त से होते हैं। जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन न पाया जाये, वे अजीवतत्त्व हैं, जिनमें मुझ ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व के अलावा, अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक और कालद्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात सब आ गये। आस्रव -बन्ध का अभाव और संवर-निर्जरा-मोक्ष की प्राप्ति, निज जीव के आश्रय से होती है। जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व है। निज जीवतत्त्व का आश्रय कैसे लेना ? कि जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाये, वह जीवतत्त्व मैं हूँ और जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन नहीं है, वे सब अजीवतत्त्व हैं, उनसे मेरा सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा मानते ही निज जीवतत्त्व का आश्रय हो जाता है, मिथ्याभावों का अभाव हो जाता है और मोक्ष का उपाय संवर-निर्जरा प्रगट हो जाते हैं और जैन बन जाता है।

'जब जीव को आपा-पर का श्रद्धान हो, तब पर से भिन्न अपने को जाने, अपने हित के अर्थ मोक्ष का उपाय करे; और अपने से भिन्न पर को जाने, तब पर से उदासीन होकर रागादिक त्यागकर मोक्षमार्ग में प्रवृर्ते; इसलिए जीव-अजीव का श्रद्धान होने पर ही मोक्ष होता है।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 316)*

'जीवपदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि है। वहाँ स्व-पर के यथार्थरूप से विपरीतश्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। जिस काल किसी जीव के स्व-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान हो, तब जीव सम्यक्त्वी होता है; इसलिए स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 341)

'प्रथम तो दुःख दूर करने में स्व-पर का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यदि स्व-पर का ज्ञान नहीं हो तो अपने को पहचाने बिना अपना दुःख कैसे दूर करे ? यदि स्व-पर का ज्ञान नहीं हो तो स्व-पर को एक जानकर, अपना दुःख दूर करने के अर्थ पर का उपचार करे तो अपना दुःख कैसे दूर करे ? यदि स्व-पर का ज्ञान नहीं हो तो अपने से तो पर भिन्न है परन्तु यह पर में अहंकार-ममकार करे तो उससे दुःख ही होता है। आपा-पर का ज्ञान होने पर ही दुःख दूर होता है। आपा-पर का ज्ञान, जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है क्योंकि आप स्वयं जीव है; शरीरादि अजीव हैं। यदि जिनमें मेरा ज्ञान दर्शन नहीं है, वे अजीवतत्त्व हैं, मुझ

आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं – इन लक्षणादि द्वारा जीव-अजीव की पहिचान हो तो स्व-पर की भिन्नता-भासित हो; इसलिए जीव-अजीव को जानना। जीव-अजीव का ज्ञान होने पर, जिन पदार्थों के अन्यथा श्रद्धान से दु:ख होता था, उन पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होने से दु:ख दूर होता है; अत: जीव-अजीव को जानना।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 78)

प्रश्न – जीव, संसार में परिभ्रमण कब तक करता है।

उत्तर – जब तक जीव-अजीव को जानकर, शरीर से भिन्न निजात्मा की पहचान नहीं करता, तब तक जीव, संसार में परिभ्रमण करता है।

'ऐसे मिथ्यादृग ज्ञान-चरण वश, भ्रमत भरत दु:ख जन्म मरण।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान॥'

(छहढ़ाला, दूसरी ढ़ाल)

'देह जीव को एक गिने, बहिरातम तत्त्व मुधा है।' *(छहढ़ाला, तीसरी ढ़ाल)*

'मुझ आत्मा, शरीर व रागादि से असंयुक्त होने पर भी, उनमें संयुक्तपने का प्रतिभास ही संसार का बीज है।' *(श्री पुरुषार्थसिद्धियुपाय, गाथा 14)*

'जीव, काल संसार यह कहै अनादि अनन्त।
मिथ्यामति मोह से दु:खी, नहीं सुख कभी लहन्त॥4॥
चार गति दु:ख से डरे, तो तज सब परभाव।
शुद्ध आत्मचिन्तन करि, लो शिव सुख का भाव॥5॥'

(श्री योगीन्दुदेव कृत योगसार)

प्रश्न – मोक्ष का उपाय क्यों करना चाहिए?

उत्तर – जब तक जीव, स्व-पर के भेदज्ञानपूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करता, तब तक संसार में ही घूमता है और मनुष्यभव, जैनकुल, दिगम्बरधर्म, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का महाभाग्य से योग बनने पर भी, उसकी गिनती चार झूठे जैनों में ही रहती है और जिस क्षण स्व-पर का भेदज्ञान करके, निज आत्मस्वरूप को पहचान लेता है, उसी क्षण सच्चे जैनों में उसकी गिनती हो जाती है और क्रम से संसार का सर्वथा अभाव हो जाता है।

प्रश्न – चार झूठे जैन कौन-कौन से हैं?

उत्तर – (1) **सधैया जैन** – जो दिगम्बर धर्मी हैं, जिनाज्ञा को मानते हैं, निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास करते हैं, सच्चे-देव-गुरु शास्त्र को ही मानते हैं;

अरे! आत्मा की शान्ति से बाहर निकलकर, चौरासी के चक्कर में दु:खी होकर दौड़ रहे इस आत्मा को, उससे बाहर निकालने के लिए, अर्थात् दु:ख की प्रज्ज्वलित अग्नि में से आत्मा को बचाने के लिए, हे जीव! अन्दर महान शान्ति का सरोवर है, उसमें निज आत्मा को सराबोर कर!

अन्य कुदेवादि को स्वप्न में भी नहीं मानते, वे सधैया जैन हैं, इन्हीं का वर्णन सातवें अधिकार में किया है कि इनकी क्या गलतियाँ रह जाती हैं कि अपना अनुभव नहीं होता।

(2) **भदैया जैन** – जो मात्र भाद्र माह के दश दिनों में मन्दिर जाते हैं।

(3) **लड़ैया जैन** – अनन्त चतुर्दशी के दिन, मात्र समाज की मीटिंग में लड़ाई करने जाते हैं।

(4) **मरैया जैन** – किसी सगे-सम्बन्धी की मृत्यु के समय, मन्दिर विधि में जिनमन्दिर जाते हैं।

प्रश्न – सधैया जैन, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को ही मानते हैं; अन्य कुदेवादि को नहीं मानते तो उनके गृहीतमिथ्यात्व तो छूट गया है ना?

उत्तर – पण्डित भागचन्द्र जी सत्तास्वरूप में कहते हैं कि नहीं! गृहीतमिथ्यात्व भी नहीं छूटा है क्योंकि मात्र अन्य देवादि को न मानना या सच्चे देवादि को मानना ही गृहीतमिथ्यात्व का अभाव नहीं है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, बाह्य में भी यथार्थ व्यवहार जानकर करनी चाहिए। सच्चे व्यवहार को जाने बिना, कोई देवादि की श्रद्धा करे तो वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न – जो जीव, जैन हैं, जिनाज्ञा को मानते हैं, निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास करते हैं, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को ही मानते हैं; अन्य कुदेवादि को नहीं मानते — उन्हें भी सावधान करने की करुणा पण्डित टोडरमलजी को हेयबुद्धि से क्यों आयी?

उत्तर – क्योंकि इस मिथ्यात्व बैरी का अंश भी बुरा है; इसलिए सूक्ष्म मिथ्यात्त्व भी त्यागने योग्य है।

प्रश्न – सच्चा जैन किसे कहते हैं?

उत्तर – निज शुद्धात्मद्रव्य के आश्रय से, मोह-राग-द्वेष को जीतनेवाली निर्मल शुद्धपरिणति जिसने प्रगट की है, वह जैन है। जितने अंश में जो रागादि का नाश करता है, उतने अंश में वह जैन है। वास्तव में जैनत्व का प्रारम्भ सम्यक्त्व होने पर ही होता है, जो चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता है।

प्रश्न – सच्चे जैन के कितने प्रकार हैं?

उत्तर – सच्चे जैन तीन प्रकार के हैं –

अहा! आषाढ़ माह की घनघोर मेघ से भरपूर रात हो, जङ्गल में चारों ओर गहन अन्धकार व्याप्त हो परन्तु मुनिराज को अन्दर आत्मा में आत्मज्ञान में, आत्मानुभूति में प्रकाश व्याप्त हो गया है। अहा! जो चैतन्य की अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें से; अर्थात्, उनके उग्र अवलम्बन से मुनिराज को प्रकाश का ज्वार आया है। बाहर में भले ही अन्धकार हो परन्तु अन्दर में उन्हें आत्मज्ञान का अनुपम प्रकाश फैल गया है।

– **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी**

1– उत्तम जैन – अरहन्त और सिद्ध;

2– मध्यम जैन – सातवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी मुनि;

3– जघन्य जैन – 4–5–6 गुणस्थानवर्ती साधक।

जीव अजीव का भेदज्ञान न करके, निजशुद्धात्मा के आश्रय से मिथ्यात्व–राग–द्वेष को जीतनेवाली निर्मल शुद्धपरिणति जिसने प्रगट नहीं की है, उसके संसार के मूलकारण मिथ्यात्व का ही सद्भाव रहता है और वह चारों गतियों में घूमकर निगोद में चला जाता है।

प्रश्न – मिथ्यात्व कैसा पाप है ?

उत्तर – मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है।

प्रश्न – मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, यह जानकर क्या करना चाहिए ?

उत्तर – 'जिनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर, फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त–व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, निज आत्मा को दु:ख समुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 192)

इस प्रकार मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, इसका फल घोर–घोर दु:ख है — ऐसा जानकर शरीरादि परद्रव्यों में एकत्वबुद्धिरूप इस दुष्ट मिथ्यात्व को तुरन्त छोड़ देना चाहिए।

प्रश्न – इस मिथ्यात्वभाव को कैसे छोड़ें ?

उत्तर – जिस समय शरीर को अपना नहीं माना, उसी समय मिथ्यात्व का अभाव, संवर–निर्जरा की प्राप्ति, और क्रम से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

तत्त्वश्रद्धान करने में प्रयोजनभूत तो यह है – रागादिक छोड़ना। (रागादिक कब छूटेंगे ? जिस समय अजीव को अपना नहीं माना, रागादिक उत्पन्न ही नहीं होंगे।) इसी भाव का नाम धर्म है। (इसी भाव, अर्थात् अजीव को अपना नहीं माना, रागादिक उत्पन्न नहीं हुए, संवर–निर्जरा प्रगट हुए। संवर–निर्जरारूप भाव का नाम ही धर्म है।)

प्रश्न – जीव–अजीव का भेदज्ञान न करके, निजात्मा के स्वरूप को न पहचानने के कारण, जिनागम में वर्णित निश्चय–व्यवहार के स्वरूप को अन्यथा जाननेवाले ये मिथ्यादृष्टि कितने प्रकार के हैं ?

वाह... ! मुक्ति का मार्ग... उसकी भी कोई परम अचिन्त्य महिमा है... ! तथा जिस आत्मस्वभाव में से वह मार्ग प्रगट होता है, उसकी महिमा की तो क्या बात... ! उस स्वभाव को लक्ष्यगत करने से उसकी परम महिमारूप भक्ति जागृत होती है और परिणाम उसमें एकाग्र होकर, उसे ही भजते हैं; उस भक्ति द्वारा जीव, परम आनन्दमय मोक्षपद को प्राप्त करता है।

मङ्गल समर्पण

उत्तर – तीन प्रकार के है :- 1– निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि;
2– व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि;
3– उभयाभासी मिथ्यादृष्टि।

प्रश्न – निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभयाभासी मिथ्यादृष्टियों के बारे में पण्डित टोडरमलजी ने क्या कवित्त लिखा है ?

उत्तर – 1– **निश्चयाभासी** – केऊ नर निहचै करि आतम को शुद्धमान,
भये हैं स्वच्छन्द न पिछानैं निज शुद्धता॥

2– **व्यवहाभासी** – केऊ व्यवहार दान शील तप भाव ही को,
आतम का हित जान छाँड़त न मुद्धता॥

3– **उभयाभासी** – केऊ नर व्यवहारनय निहचै के मारग
भिन्न–भिन्न जान यह बात करैं उद्धता॥

प्रश्न – तीनों आभासों से सर्वथा भिन्न–भिन्न सम्यग्ज्ञानी क्या जानता है ?

उत्तर – जब जानैं निहचै के भेद व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता॥

– ये सम्यग्ज्ञानी है।

निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि —

प्रश्न – निश्चयाभासी मिथ्यात्व की पुष्टि कैसे करता है ?

उत्तर – भगवान ने जो बात शक्ति अपेक्षा बतायी है, उसे प्रगट पर्याय में मान लेता है। (2) भगवान ने शुभभावों को बन्ध का कारण, हेय बताया है तो शुभ को छोड़कर, अशुभ में प्रवृत्ति करनेवाले को निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

प्रश्न – जो बात भगवान ने शक्ति अपेक्षा बतायी है, उसे निश्चयाभासी प्रगट पर्याय में क्यों मान लेता है ?

उत्तर – (1) जिनागम, अर्थात् चारों अनुयोगों में निश्चय–व्यवहाररूप वर्णन है। वहाँ यथार्थ का नाम निश्चय है और उपचार का नाम व्यवहार है – इन निश्चय–व्यवहार के यथार्थस्वरूप का पता न होने के कारण, जिनवाणी में नाना नयों की अपेक्षा कहीं कैसा और कहीं कैसा निरूपण किया है, उसे समझ नहीं पाता और अपने खोटे अभिप्राय से निश्चयनय की मुख्यता से जो कथन किया

बापू! स्वद्रव्य के अतिरिक्त जितने भी देव–गुरु–शास्त्र, शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ और स्त्री, परिवार आदि परद्रव्य हैं, उनकी ओर का जो तेरा झुकाव और लक्ष्य है, वह सब शुभाशुभराग है और वह तेरी दुर्गति है प्रभु!
– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

हो, उसी को ग्रहण करके, जो शक्ति अपेक्षा कहा गया है, इसे प्रगट पर्याय में मान लेता है।

प्रश्न – शक्ति अपेक्षा कही बात को प्रगट पर्याय में माननेवाले इस निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि को क्या कभी धर्म की प्राप्ति, मोक्षमार्ग की शुरुआत हो सकती है ?

उत्तर – कभी नहीं हो सकती, क्योंकि जिनवाणी में तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता होने को मोक्षमार्ग कहा है। इसके –

1– सम्यग्दर्शन– ज्ञान में सात तत्त्वों का श्रद्धान व जानना होना चाहिए, परन्तु निश्चयाभासी को उनका विचार नहीं है;

2– चारित्र में रागादिक दूर करना चाहिए, परन्तु उसका उद्यम नहीं है;

3– एक अपने शुद्ध आत्मा के अनुभवन को ही मोक्षमार्ग जानकर संतुष्ट हुआ है तो जब सन्तोष हो गया है तो सच्चे मोक्षमार्ग की जरूरत व प्रयत्न होने का अवकाश ही नहीं रहा।

अत: शक्ति अपेक्षा कही बात को प्रगट पर्याय में मानकर, मोक्षमार्ग की भ्रान्तिवाले निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि को कभी भी सच्चे मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं हो सकता।

प्रश्न – भगवान ने शक्ति अपेक्षा क्या बात बतलाती है, जिसे निश्चयाभासी प्रगट पर्याय में मान लेता है ?

उत्तर – (1) मैं सिद्धसमान शुद्ध हूँ, (2) मैं केवलज्ञानादि सहित हूँ, (3) मैं द्रव्यकर्म–नोकर्म रहित हूँ, (4) मैं परमानन्दमय हूँ, (5) जन्म–मरणादि दु:ख मेरे नहीं हैं – ये भगवान ने शक्ति अपेक्षा कहीं हैं परन्तु निश्चयाभासी इन्हें प्रगट पर्याय में मान लेता है।

प्रश्न – निश्चयाभासी के शक्ति अपेक्षा कही बात को प्रगट पर्याय में माननेरूप भ्रम को दूर करने के उद्देश्य से पण्डित टोडरमलजी क्या प्रश्न पूछते हैं ?

उत्तर – पण्डित टोडरमलजी निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि से पूछते हैं —

1— यह चिन्तवन यदि द्रव्यदृष्टि से करते हो तो द्रव्य तो शुद्ध–अशुद्ध सर्व पर्यायों का समुदाय है, तुम शुद्ध ही चिन्तवन क्यों करते हो ?

आत्मा का चैतन्यघर महान आनन्द से अत्यन्त शोभित है। जगत में इससे उत्कृष्ट कोई वस्तु नहीं है। अरे जीव! निजघर में आकर, अपने आत्मा की शोभा तो देख! उसमें अद्भुत–अलौकिक आनन्द भरा है... उसमें चैतन्य भगवान निवास करता है... भगवानपना तेरे घर में ही भरा है, उसमें किसी विकल्प का कचरा नहीं है, कोई विपदा नहीं है। इस चैतन्य–चमत्कारमय, आनन्दमय स्वघर में तेरा आत्मा अतिशय आनन्द से सुशोभित हो जाएगा.... आत्मा में दीपावली के चैतन्य दीपक जगमगा उठेंगे।

2— यदि पर्यायदृष्टि से करते हो तो तुम्हारे तो वर्तमान अशुद्धपर्याय है, तुम शुद्ध ही अपने को क्यों मानते हो ?

3— यदि शक्ति अपेक्षा शुद्ध मानते हो तो 'मैं ऐसा होने योग्य हूँ' — ऐसा मानों, मैं ऐसा हूँ —ऐसा क्यों मानते हो ?

इसलिए अपने को पर्याय अपेक्षा शुद्धरूप चिन्तवन करना भ्रम है।

प्रश्न – वर्तमान पर्याय में मौजूद संसार, अल्पज्ञता, अशुद्धि और दुःख को नजरअन्दाज करके, अपने को मात्र शुद्धरूप अनुभवन करना, अर्थात् अन्य अवस्था में, अन्य अवस्था मानना भ्रम क्यों है ?

उत्तर – 1– निश्चयाभासी चिन्तवन करता है कि मैं सिद्धसमान शुद्ध हूँ — तो पण्डित टोडरमलजी पूछते हैं कि तुमने अपने को सिद्ध समान माना तो ये संसार अवस्था किसकी है ?

2– निश्चयाभासी चिन्तवन करता है कि मैं केवलज्ञानादि सहित हूँ — तो पण्डित टोडरमलजी पूछते हैं कि तुम्हारे केवलज्ञानादि हैं तो ये मतिज्ञानादि किसके हैं ?

3– निश्चयाभासी चिन्तवन करता है कि मैं द्रव्यकर्म-नोकर्म रहित हूँ — तो पण्डित टोडरमलजी पूछते हैं कि तुम यदि द्रव्यकर्म-नोकर्म रहित हो तो ज्ञानादिक की व्यक्तता क्यों नहीं है ?

4– निश्चायाभासी चिन्तवन करता है कि मैं परमानन्दमय हूँ — तो पण्डित टोडरमलजी पूछते हैं कि यदि तुम परमानन्दमय हो तो अब कर्तव्य क्या रहा ?

5– निश्चयाभासी चिन्तवन करता है कि मेरे जन्म-मरणादि दुःख नहीं हैं — तो पण्डितजी पूछते हैं कि यदि तुम्हारे जन्म-मरणादि दुःख नहीं है तो दुःखी कैसे होते हो ?

भये हैं स्वच्छन्द —

भगवान ने शुभभावों को बन्ध का कारण, हेय बताया है — तो निश्चयाभासी शुभभावों को छोड़कर, अशुभ में प्रवृत्ति करने लगता है –

प्रश्न – निश्चयाभासी शुभभावों को छोड़कर, स्वच्छन्दता का पोषण क्यों करता है ?

अहा! जगत् को सत्य मिला नहीं और यूँ ही जीवन चला जा रहा है। भाई! पुण्य से स्वर्गादिक प्राप्त हों, परन्तु वह सब दुर्गति है, उसमें कहाँ सुख है; स्वर्गादि में भी राग के क्लेश का ही भोग है। भाई! राग स्वयं पुण्य हो या पाप, वह दुःख ही है।

– **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी**

उत्तर – 1. मोक्षमार्ग में तो रागादिक मिटाने का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करना है, वह तो, अर्थात् रागादिक मिटाकर निजात्मा के श्रद्धान-ज्ञान- आचरण का तो विचार ही नहीं है, क्योंकि अपने को शुद्ध माना है।

2. अपने शुद्ध अनुभवन के भ्रम में अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर, अन्य सर्व साधनों का, अर्थात् शुभभावों का निषेध करता है और स्वच्छन्दता का पोषण करके, चारों गतियों में घूमता हुआ निगोद में चला जाता है।

प्रश्न – निश्चयाभासी कैसे-कैसे शुभभावों को छोड़कर, अशुभ में प्रवृत्ति करता है ?

उत्तर – 1- शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है। *(पृष्ठ 200)*

2- द्रव्यादिक, गुणस्थान—मार्गणा आदि के विचार विकल्प ठहराता है। *(पृष्ठ 201)*

3- तपश्चरण करने को वृथा क्लेश करना मानता है। *(पृष्ठ 203)*

4- व्रतादि को बन्धन में पड़ना ठहराता है। *(पृष्ठ 203)*

5- पूजनादि कार्यों को शुभास्रव जानकर, हेय प्ररूपित करता है। *(पृष्ठ 205)*

इत्यादि सर्व साधनों को उठाकर प्रमादी होकर, अशुभ में प्रवर्तता है।

प्रश्न – श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवें अधिकार के प्रारम्भ में पृष्ठ 193 से 198 तक में निश्चायाभासी की चार भूलें कौन-कौन सी बताई हैं ?

उत्तर – 1- वर्तमान में आत्मा की संसारदशा होने पर भी, निश्चयाभासी अपने को सिद्ध समान शुद्ध मानता है।

2- वर्तमान में आत्मा की अल्पज्ञदशा होने पर भी, निश्चयाभासी अपने को केवलज्ञान मानता है।

3- निश्चयभासी मानता है कि रागादि वर्तमान पर्याय में होते ही नहीं हैं।

4- निश्चयभासी, विकार का उत्पन्न होना, द्रव्यकर्म के कारण मानता है।

प्रश्न – निश्चयाभासी के स्वरूप को जानने से पात्र भव्य जीवों को क्या जानना-मानना चाहिए ?

उत्तर – पात्र भव्य जीवों को यह जानना चाहिए कि मेरे में सिद्धपने-केवलज्ञानादिपने की शक्ति मौजूद है। मेरी पर्याय में दोष है, वह मेरे अपराध से ही है — ऐसा जानकर शक्तिवान का आश्रय लेकर, धर्म की प्राप्ति करनी चाहिए।

अशरीरी होना हो, कलेवर से रहित होना हो, उसे शरीर से अत्यन्त भिन्नता का निर्णय करके उसके कर्तृत्व की बुद्धि छोड़ना चाहिए। कर्तृत्वबुद्धि छूटे बिना, मध्यस्थता नहीं होती और मध्यस्थता के बिना वीतरागता नहीं होती। मेरा स्वरूप, पुद्गल की क्रिया का आधार नहीं है; मेरा स्वरूप तो मेरे अनन्त ज्ञानादिक का ही आधार है और शरीर आदि क्रिया का आधार, पुद्गल ही है। मेरे बिना ही उनके कार्य स्वयं होते हैं।

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि —

प्रश्न – व्यवहाराभासी मिथ्यात्व की पुष्टि कैसे करता है ?

उत्तर – जिनागम में जहाँ व्यवहार की मुख्यता से उपदेश है, उसे मानकर बाह्य साधनादिक ही का श्रद्धानादिक करते हैं, उन्हें व्यवहाराभासी कहते हैं। *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 213)*

प्रश्न – जिनागम में व्यवहार की मुख्यता से उपदेश किस प्रकार है ?

उत्तर – जिसको अपनी आत्मा के आश्रय से शुद्धपर्याय प्रगट हुई है, उसको अभी पूर्णता न होने के कारण अशुद्धि है, जिसमें अस्थिरता का राग है, उस राग को उपचार से धर्म कहने में आता है।

1– जैसे चौथे गुणस्थान में श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय प्रगटी और स्वरूपाचरणचारित्र की प्राप्ति हुई, वह यथार्थ का नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है; साथ में देव–गुरु–शास्त्र का राग और सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा को बन्ध का कारण होने पर भी, निश्चयसम्यग्दर्शन का निमित्त व सहचारी जानकर उपचार, अर्थात् व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

2– पाँचवें गुणस्थान में दो चौकड़ी कषाय के अभावपूर्वक देशचारित्ररूप शुद्धि ही यथार्थ का नाम निश्चयश्रावकपना है; साथ में 12 अणुव्रतादि के राग को बन्ध का कारण होने पर भी, निश्चय श्रावकपने का निमित्त व सहचारी जानकर, व्यवहार से श्रावकपना कहा जाता है।

3– छठवें गुणस्थान में तीन चौकड़ी कषाय के अभावपूर्वक सकलचारित्ररूप शुद्धि, यथार्थ का नाम निश्चयमुनिपना है; साथ में 28 मूलगुणादि के राग को बन्ध का कारण होने पर भी, निश्चयमुनिपने का निमित्त व सहचारी जानकर, व्यवहार से मुनिपना कहा जाता है।

इस प्रकार जिनागम में व्यवहार की मुख्यता से उपदेश है।

प्रश्न – जिनागम में व्यवहार की मुख्यता से वर्णित उपदेश को समझने में व्यवहाराभासी क्या भूल करता है, जिस कारण उसके सर्व धर्म के अङ्ग, मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर – जिनागम में जहाँ व्यवहार की मुख्यता से उपदेश है, व्यहाराभासी उसे मानकर बाह्य साधनादिक ही का श्रद्धानादि करता है। अर्थात् —

मङ्गल समर्पण

अहो! सन्त, निस्पृह करुणा करके जगाते हुए कहते हैं कि तू राग में एकाकार होकर सो रहा है परन्तु वह तेरा पद नहीं है। प्रभु! तेरा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है। एक ज्ञानस्वभाव से भरपूर ध्रुव नित्यानन्द स्वरूप प्रभु आत्मा शुद्ध चैतन्यधातुमय है और वह तेरा पद है। इस प्रकार शुभाशुभराग में; अर्थात्, अपद में परिभ्रमण करने जाता है, उसके बदले स्वपद में जा न! वहाँ बस न!! वहीं ठहर जा न!!! लो यह करने योग्य कार्य है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

1- व्यवहाराभासी, श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय और स्वरूपाचरणचारित्र को तो पहचानता नहीं और देव-गुरु-शास्त्र का राग व सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन मानकर, देव-गुरु-शास्त्र के राग व सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा आदि बाह्यसाधनादिक ही का श्रद्धानादिक करता है। अत: उनके सर्व धर्म के अङ्ग अन्यथारूप होकर मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं।

2- व्यवहाराभासी, दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप देशचारित्र को तो पहचानता नहीं और 12 अणुव्रतादि के राग को ही श्रावकपना मानकर, 12 अणुव्रतादि के रागरूप बाह्य साधनादिक ही का श्रद्धानादि करता हैं; अत: उसके सर्व धर्म के अङ्ग, अन्यथारूप होकर मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं।

3- व्यवहाराभासी, तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप सकलचारित्र-शुद्धिरूप निश्चय मुनिपने को तो पहचानता नहीं और 28 मूलगुणादि के राग को ही मुनिपना मानकर, 28 मूलगुणादि के रागरूप बाह्य साधनादिक ही का श्रद्धानादि करता है; अत: उनके सर्व धर्म के अङ्ग, अन्यथारूप होकर मिथ्याभाव को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न - जिनागम में कहीं व्यवहार का उपदेश और कहीं व्यवहार का निषेध क्यों किया है?

उत्तर - (1) व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति से पुण्यबन्ध होता है; इसलिए पापप्रवृत्ति की अपेक्षा तो इसका, अर्थात् शुभभावों का निषेध है नहीं।

ध्यान रहे व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति ज्ञानी को ही होती है, क्योंकि जिसको आत्मा के आश्रय से शुद्धिरूप निश्चय प्रगटा है, उसके अस्थिरता सम्बन्धी शुभभावों को उपचार से व्यवहारधर्म कहा जाता है परन्तु ज्ञानी उन शुभभावों को अशुभ से बचने की अपेक्षा सेवन करता हुआ दीखने पर भी, श्रद्धान में उन शुभभावों को बन्ध का कारण, मोक्ष का घातक, हेय ही मानता है।

(2) जो जीव, व्यवहारप्रवृत्ति ही से सन्तुष्ट होकर, सच्चे मोक्षमार्ग के उद्यमी नहीं होते, उन्हें मोक्षमार्ग में सन्मुख करने के लिये उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति का निषेध करते हैं। *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 213)*

प्रश्न - जिनागम में जहाँ व्यवहार की मुख्यता से उपदेश है, वहाँ क्या समझना चाहिये?

शरीर तो पुद्गल का पिण्ड है, वह तो आज सुन्दर हो और कल सड़ जाये... उसमें आत्मा का जरा भी अधिकार नहीं है। आत्मा ध्यान रखे तो अच्छा रहे और आत्मा ध्यान न रखे तो बिगड़ जाये — ऐसा सम्बन्ध जरा भी नहीं है। अहो! आत्मा, अशरीरी; वह शरीर का आधार नहीं — ऐसे आत्मा को जानने से धर्मात्मा को शरीर आदि पक्षपात नहीं है; अत्यन्त मध्यस्थता है। आत्मा, शरीर आदि का साधन नहीं और शरीर, आत्मा के धर्म का साधन नहीं है। आत्मा, कर्ता या साधन हुए बिना ही शरीरादि पुद्गल अपने कार्यरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं — ऐसी भिन्नता के भान बिना, अशरीरी सिद्धपद की वास्तविक पहचान नहीं होती।

मङ्गल समर्पण

उत्तर – निश्चयधर्म तो आत्मा के आश्रय से प्रगट शुद्धि ही है; व्रत, तप, पूजा भक्ति आदि अन्य नाना विशेष बाह्य साधन की अपेक्षा उपचार से किये हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना।

'अनशनादि क्रिया को तपसंज्ञा उपचार से जानना। इसी से इसे उपचार कहा है। व्यवहार और उपचार का एक अर्थ है। तथा ऐसे साधन से जो वीतरागभावरूप विशुद्धता हो, वह सच्चा तप, निर्जरा का कारण जानना।

यहाँ दृष्टान्त है – जैसे, धन को व अन्न को प्राण कहा है, सो धन से अन्न लाकर, उसका भक्षण करके प्राणों का पोषण किया जाता है; इसलिए उपचार से धन व अन्न को प्राण कहा है। कोई इन्द्रियादिक प्राणों को तो न जाने और धन व अन्न को ही प्राण जानकर संग्रह करे, तो मरण को ही प्राप्त होगा।

सिद्धान्त — उसी प्रकार अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्तन करके वीतरागभावरूप तप का पोषण किया जाता है; इसलिए उपचार से अनशनादि व प्रायश्चित्तादि को तप कहा है। कोई वीतरागभावरूप तप को न जाने और इन्हीं को तप जानकर संग्रह करे तो संसार ही में भ्रमण होगा।

आदेश — बहुत क्या? इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्य साधन की अपेक्षा उपचार से किये हैं। उनको व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 233)*

प्रश्न – जिनागम में जहाँ शुभभावों के निषेधरूप उपदेश है, वहाँ क्या समझना चाहिए?

उत्तर – पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि —

'शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति का निषेध सुनकर, यदि शुभप्रवृत्ति छोड़ अशुभ में प्रवृत्ति करोगे तो तुम्हारा बुरा होगा और यदि यथार्थ श्रद्धान करके, मोक्षमार्ग में प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा।

दृष्टान्त — जैसे, कोई रोगी निर्गुण औषधि का निषेध सुनकर, औषधि साधन को छोड़कर कुपथ्य करे तो वह मरेगा, उसमें वैद्य का तो कुछ दोष नहीं है।

सिद्धान्त — उसी प्रकार कोई संसारी, पुण्यरूप धर्म का निषेध सुनकर, धर्मसाधन छोड़, विषय-कषायरूप प्रवर्तन करेगा तो वही नरकादि में दुःख पायेगा। उपदेशदाता का तो कुछ दोष है नहीं। उपदेश देनेवाले का अभिप्राय तो

मङ्गल समर्पण

भाई! त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर परमात्मा का यह अनादि-अनन्त पुकार है। भूतकाल में अनन्त तीर्थङ्कर हो गये हैं, वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में तीर्थङ्कर विराजमान हैं और भविष्य में अनन्त तीर्थङ्कर होंगे। उन सबका एक ही पुकार है कि भाई! तुझे सुख अपेक्षित हो तो अन्तर में जा! अन्तर में सुख का निधान ज्ञायकमूर्ति चैतन्य महाप्रभु परमात्मस्वरूप से विराजमान है, उसमें जा...

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

असत्य श्रद्धानादि छुड़ाकर, मोक्षमार्ग में लगाने का जानना।'

(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 213)

प्रश्न – जिनागम में व्यवहार की मुख्यता से वर्णित उपदेश के यथार्थ स्वरूप को न समझने के कारण, व्यवहाराभासियों में कौन–कौन सी भूलें पायी जाती हैं?

उत्तर – 1– कोई कुल अपेक्षा धर्म मानते हैं। *(पृष्ठ 214)*

2– कोई परीक्षारहित शास्त्रों की आज्ञा को धर्म मानते हैं। *(पृष्ठ 215)*

3– कोई परीक्षा करके जैनी होते हैं परन्तु मूल प्रयोजनभूत बातों की परीक्षा नहीं करते। *(पृष्ठ 217)*

4– कोई संगति से जैनधर्म धारण करते हैं। *(पृष्ठ 218)*

5– कोई आजीविका, मान बड़ाई के लिये जैनी होते हैं। *(पृष्ठ 218)*

6– अरहन्तभक्ति का अन्यथारूप श्रद्धान करते हैं, सच्चा श्रद्धान नहीं करते हैं। *(पृष्ठ 221)*

7– गुरुभक्ति का अन्यथारूप श्रद्धान करते हैं सच्चा श्रद्धान नहीं करते हैं। *(पृष्ठ 223)*

8– शास्त्रभक्ति का अन्यथारूप श्रद्धान करते हैं, सच्चा श्रद्धान नहीं करते। *(पृष्ठ 223)*

9– जीव–अजीव आदि सात तत्त्वों का अन्यथारूप श्रद्धान करते हैं। *(पृष्ठ 225 से 238)*

10– इस प्रकार प्रथम व्यवहार चाहिए, व्यवहार करते–करते निश्चयधर्म प्रगट हो जायेगा — ऐसी–ऐसी उल्टी मान्यताएँ व्यवहारभासियों में पायी जाती हैं, जिसका फल चारों गतियों में घूमकर निगोद है।

उभयाभासी मिथ्यादृष्टि —

प्रश्न – उभयाभासी मिथ्यादृष्टि किसे कहते हैं?

उत्तर – जो निश्चयाभासी के समान निश्चय को और व्यवहाराभासी के समान व्यवहार को मानता है, उसे उभयाभासी कहते हैं।

प्रश्न – उभयाभासी, निश्चयनय के आभास का अवलम्बन किस प्रकार लेता है?

भगवान आत्मा, अशरीरी है, अतीन्द्रिय है — ऐसे निर्णय के बिना, अशरीरीपद की साधकदशा नहीं होती। शरीर या इन्द्रियों को सहायकरूप मानें, आत्मा उनके कार्य का कर्ता–कारण या आधार है — ऐसा मानें तो उसने अशरीरी आत्मा को नहीं जाना है और अशरीरी सिद्धपद को भी नहीं पहचाना है। इस कारण जिन्दगी, देह के कार्य अपने मानकर बितायी है परन्तु अब समझे तब से सबेरा! अर्थात्, जहाँ देहादिक से भिन्न आत्मा की सम्यक् पहचान हुई, वहाँ भेदज्ञानरूपी सुप्रभात उदित हुआ।

मङ्गल समर्पण

मुमुक्षु का मङ्गल अभिप्राय और मङ्गल कामना यह है कि राग से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा का सदा सेवन करना अर्थात् निरन्तर – सतत् अनुभव करना – यही सिद्धि का पन्थ है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

उत्तर – भगवान ने जो बात शक्ति अपेक्षा कही है, उसे प्रगट पर्याय में मान लेता है – यह निश्चयनय के आभास का अवलम्बन है।

प्रश्न – उभयाभासी, व्यवहारनय के आभास का अवलम्बन किस प्रकार होता है ?

उत्तर – जिनागम में जहाँ व्यवहार की मुख्यता से उपदेश है, उसे सत्यार्थ मानकर बाह्य साधनादिक ही का श्रद्धानादिक करता है — यह व्यवहारनय के आभास का अवलम्बन है।

प्रश्न – उभयाभासी के निश्चय-व्यवहार नयों के आभास के अवलम्बन को दृष्टान्त देकर समझाइये ?

उत्तर – 1- निश्चयनय से तो मैं सिद्धसमान शुद्ध हूँ और व्यवहार से मैं संसारी हूँ।

2- निश्चय से मेरे केवलज्ञान है; व्यवहार से मति-श्रुतज्ञान है।

3- निश्चय से मैं त्रिकाल शुद्ध सम्यग्दृष्टि हूँ; व्यवहार से मैं देव-गुरु-शास्त्र के राग का पालन करता हूँ।

4- निश्चय से मैं त्रिकाल शुद्ध श्रावक हूँ; व्यवहार से मैं 12 अणुव्रतादि का पालन करता हूँ।

5- निश्चय से तो मैं त्रिकाल शुद्ध मुनि हूँ, और व्यवहार से मैं 28 मूलागुणादि का पालन करता हूँ।

6- निश्चय से तो मैं आत्मा हूँ; व्यवहार से मैं शरीर हूँ।

7- निश्चय से तो ज्ञान, मुझ आत्मा के ज्ञानगुण में से आता है, सुख मुझ आत्मा के सुखगुण में आता है; व्यवहार से ज्ञेयों से ज्ञान और विषयों से सुख आता है।

8- निश्चय से तो मेरा कार्य ज्ञाता-दृष्टा है; व्यवहार से मैं उठता-बैठता, खाता-पीता हूँ -आदि... इस प्रकार उभयाभासी, निश्चय-व्यवहारनयों के आभास का अवलम्बन लेकर, मिथ्यात्व की पुष्टि करते हैं।

प्रश्न – उभयाभासी के निश्चय-व्यवहार नयों के आभास के अवलम्बन से मिथ्यात्व की पुष्टि किस प्रकार हुई ?

उत्तर – पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि 'तू किसी को निश्चय माने और

किसी को व्यवहार माने, यह भ्रम है। — क्योंकि तेरे मानने में भी परस्पर विरोध आया। क्योंकि 1- यदि तू अपने को सिद्धसमान शुद्ध मानता है तो व्रतादि किसलिये करता है ? 2-यदि व्रतादि साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है तो वर्तमान में शुद्ध आत्मा का अनुभवन मिथ्या हुआ।' *(श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 249)*

प्रश्न – उभयाभासी के निश्चय-व्यवहार नयों के आभास के अवलम्बन के कारण क्या-क्या विपरीत मान्यताएँ पायी जाती हैं ?

उत्तर – 1- वास्तव में वीतरागभाव एक ही मोक्षमार्ग है परन्तु उभयाभासी दो मोक्षमार्ग मानता है।

2- निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट करने योग्य उपादेय है और व्यवहार हेय है, परन्तु उभयाभासी दोनों को उपादेय मानता है।

3- निश्चय के आश्रय से धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से बन्ध होता है, परन्तु उभयाभासी कहता है कि हम श्रद्धान तो हम निश्चय का रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहाररूप रखते हैं — आदि उल्टी मान्यताएँ उभयाभासी में पायी जाती हैं।

अरे जीवो! तुम्हारा आत्मा इस एक क्षेत्र में रहनेवाले शरीर के कार्य में भी कारणरूप नहीं है तो फिर दूसरों की तो क्या बात! देह मन्दिर में विराजमान भगवान आत्मा, अशरीरी है; वह देह का भी आधार नहीं तो बाहर के पदार्थों की क्या बात! कहीं तेरा कर्तापना नहीं है; इसलिए तू उनका पक्षपात छोड़ दे। यह वीतरागता का मार्ग है... यह सिद्धपद का पंथ है।

दिनाँक 12-10-1998

निश्चय -व्यवहार की तीन अपेक्षाएँ

'वहाँ जिनागम में निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन हैं। उनमें यथार्थ का नाम निश्चय है, उपचार का नाम व्यवहार है। इनके स्वरूप को न जानते हुये अन्यथा प्रवर्तते हैं।'

प्रश्न - जिनागम में कैसा वर्णन है ?

उत्तर - जिनागम में निश्चय-व्यवहारनय वर्णन है।

प्रश्न - निश्चय और व्यवहार का लक्षण क्या है ?

उत्तर - यथार्थ का नाम निश्चय है और उपचार का नाम व्यवहार है।

प्रश्न - यथार्थ का नाम निश्चय और उपचार का नाम व्यवहार को किस प्रकार जानना चाहिये ?

उत्तर - 1- जहाँ अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ का नाम निश्चय कहा हो, उसकी अपेक्षा निर्मल शुद्धपरिणति को उपचार का नाम व्यवहार जानना।

2- जहाँ निर्मल शुद्धपरिणति को यथार्थ का नाम निश्चय कहा हो, उसकी अपेक्षा वहाँ भूमिकानुसार शुभभावों को उपचार का नाम व्यवहार जानना।

3- जहाँ शुभाशुभविकारीभावों को यथार्थ का नाम निश्चय कहा हो, उसकी अपेक्षा द्रव्यकर्म-नोकर्म ने कराया को उपचार का नाम व्यवहार जानना।

जिज्ञासा — शास्त्रों में कही (1) त्रिकाली स्वभाव को यथार्थ का नाम निश्चय; कही (2) निर्मल परिणति का नाम निश्चय; कही (3) विकारीभावों को यथार्थ का नाम निश्चय; कही (1) शुद्धपर्याय को उपचार का नाम व्यवहार; कही (2) भूमिकानुसार शुभभावों को उपचार का नाम व्यवहार; कही (3) द्रव्यकर्म-नोकर्म को उपचार का नाम व्यवहार कहा है — इससे तो भ्रान्ति होती है, किसको निश्चय कहें और किसको व्यवहार कहें ?

समाधान — अरे भाई! भ्रान्ति मिटाने के लिये ही यथार्थ का नाम निश्चय और उपचार का नाम व्यवहार का ज्ञान कराया है। किस अपेक्षा यथार्थ का नाम निश्चय कहा है और किस अपेक्षा उपचार का नाम व्यवहार कहा है - यदि

मङ्गल समर्पण

आचार्यदेव कहते हैं कि हम आत्मा को निरन्तर चैतन्यस्वरूप अनुभव कर रहे हैं और दूसरे जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे भी निरन्तर उसका अनुभव करते हैं। हे मुमुक्षु जीवों! तुम भी आत्मा को सर्व प्रयत्न से जानकर, श्रद्धा में लेकर, उसका अनुभव करो।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

यह जान ले तो मिथ्यात्व का अभाव होकर, धर्म की प्राप्ति हो।

प्रश्न – शास्त्रों में किन अपेक्षाओं से निश्चय–व्यवहार का वर्णन है ?

उत्तर – तीन अपेक्षाएँ हैं – 1–आश्रय करने की अपेक्षा;

2– प्रगट करने योग्य की अपेक्षा;

3– दोष का ज्ञान कराने की अपेक्षा।

1– अखण्ड त्रिकाली स्वभाव, यथार्थ का नाम निश्चय – आश्रय करने की अपेक्षा। एकमात्र अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही धर्म की प्राप्ति, वृद्धि और पूर्णता होती है; अत: अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ का नाम निश्चय कहा है।

2– निर्मल शुद्ध परिणति, यथार्थ का नाम निश्चय – प्रगट करने की अपेक्षा। एकमात्र निर्मल शुद्धपरिणति ही प्रगट करने योग्य है; अत: निर्मल शुद्धपरिणति को यथार्थ का नाम निश्चय कहा है।

3– शुभाशुभ विकारीभाव, यथार्थ का नाम निश्चय – दोष का ज्ञान कराने की अपेक्षा। पर्याय में दोष अपने अपराध से है; द्रव्यकर्म–नोकर्म के कारण नहीं – यह ज्ञान कराने के लिये शुभाशुभ विकारीभावों को यथार्थ का नाम निश्चय कहा है।

1– निर्मल शुद्धपरिणति, उपचार का नाम व्यवहार – आश्रय की अपेक्षा। अनादि–अनन्त नहीं है, एक समय की है, इसका आश्रय नहीं लिया जा सकता; अत: शुद्ध निर्मलपरिणति को उपचार का नाम व्यवहार कहा है।

2– भूमिकानुसार शुभराग, उपचार का नाम व्यवहार – प्रगट न करने की अपेक्षा / मोक्षमार्ग में शुद्धि अंश के साथ किस–किस प्रकार का राग होता है; अन्य प्रकार का नहीं होता। ये राग, मोक्ष का घातक है — इसका ज्ञान कराने की अपेक्षा, उपचार का नाम व्यवहार कहा है।

3– द्रव्यकर्म–नोकर्म, उपचार का नाम व्यवहार – दोष में निमित्त का ज्ञान कराने की अपेक्षा। जब विभावभाव उत्पन्न होते हैं, द्रव्यकर्म–नोकर्म ही निमित्त होते हैं; आत्मा निमित्त नहीं होता — इस अपेक्षा से द्रव्यकर्म–नोकर्म को उपचार का नाम व्यवहार कहा जाता है।

उपरोक्त प्रकार – किस अपेक्षा निश्चय और किस अपेक्षा व्यवहार कहा

अहा! स्वानुभूतिमय यह मार्ग तो अनन्त आनन्द का देनेवाला मार्ग है। अनन्त आनन्द का मार्ग तो ऐसा अद्‌भुत ही होता है न! जगत को ऐसे मार्ग का लक्ष्य नहीं है; इसलिए बाहर में राग के सेवन को मार्ग मान रहा है। बापू! तेरा मार्ग, राग में नहीं; तेरा मार्ग तो चैतन्य में समाहित है। चैतन्य में अगाध गम्भीर शान्ति और अनन्त गुण का भण्डार भरा है, उसमें देखते ही तुझे आनन्द का सागर दिखायी देगा।

मङ्गल समर्पण

मङ्गल समर्पण

शुभ अथवा अशुभरूप किसी भी पराश्रितभाव से आत्मा को धर्म होता है – ऐसी मान्यता ज्ञानियों को सम्मत नहीं है। जिस भाव से आत्मा को हानि होती है, वह एक भी भाव, ज्ञानी को सम्मत नहीं होता। ज्ञानी को आत्मा का विकाररहित स्वभाव ही सम्मत है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

है, इसका ज्ञान करे तो मिथ्यात्व का अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न – निर्मल शुद्धपरिणति, यथार्थ का नाम निश्चय और भूमिकानुसार शुभराग, उपचार का नाम व्यवहार को चौथे, पाँचवें और छठें गुणस्थानों में किस प्रकार समझें ?

उत्तर – 1— चौथे गुणस्थान में श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय प्रगटी व स्वरूपाचरणचारित्र की प्राप्ति, यथार्थ का नाम निश्चयसम्यग्दर्शन है और साथ में सच्चे-देव-गुरु-शास्त्र का राग व सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा, बन्धरूप होने पर भी सम्यग्दर्शन का आरोप करना, उपचार का नाम व्यवहार है।

2— पाँचवें गुणस्थान में दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप देशचारित्र प्रगटा, यथार्थ का नाम निश्चयश्रावकपना और 12 अणुव्रतादि का राग, बन्ध का कारण होने पर भी, उस पर श्रावकपने का आरोप करना, उपचार का नाम व्यवहार है।

3— छठवें गुणस्थान में तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप सकलचारित्र प्रगटा, यथार्थ का नाम निश्चयमुनिपना और 28 मूलगुणादि का भाव बन्धरूप होने पर भी, मुनिपने का आरोप करना — उपचार का नाम व्यवहार है।

इसमें क्या समझना है ?

शुद्धि और अशुद्धि में निश्चय-व्यवहार बतलाकर, साधकदशा का स्वरूप समझाया है। अभी मोक्ष नहीं हुआ है; मोक्षमार्ग हुआ है। मोक्षमार्ग की शुरूआत होने पर, चारित्रगुण की पर्याय में शुद्धि-अशुद्धिरूप दो अंश हो जाते हैं। उसमें शुद्धि अंश, वीतराग है और अशुद्धि अंश, सराग है, वह बन्ध है; इसलिए शुद्धि अंश को निश्चय और अशुद्धि अंश को व्यवहार बतलाया है।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार की यथार्थ विवक्षाएँ समझकर, जिनागम का अध्ययन करके आत्महित करना चाहिए।

पूज्य पण्डितजी के प्रवचन से.................

आत्मसन्मुखता के लिये आठ बातों का विचार

प्रश्न – आत्महित के लिये क्या जानना आवश्यक है ?

उत्तर – निमित्तकारण, निमित्त-नैमित्तिक, व्याप्य – व्यापक, व्यवहार, निश्चय, कार्य के कितने कारण कहे जाते हैं और वे कौन-कौन से हैं ? इनके जानने-मानने से क्या लाभ है ?

प्रश्न – मैं उठा–इस वाक्य पर निमित्तकारण एवं निमित्त नैमित्तिक की परिभाषा लगाकर बताइये ?

उत्तर – मुझ आत्मा स्वयं स्वत: कैलाशचन्द्र के उठने रूप न परिणमे परन्तु कैलाशचन्द्र के उठने की उत्पत्ति में अनुकूल होने का जिस पर आरोप आ सके, उस मुझ आत्मा को **निमित्तकारण** कहते हैं।

आहारवर्गणारूप कैलाशचन्द्र स्वयं स्वत: उठनेरूप परिणमता है, तब उस समय मुझ आत्मारूप निमित्तकारण का कैलाशचन्द्र के उठने के साथ सम्बन्ध है, यह बतलाने के लिये कैलाशचन्द्र के उठने को नैमित्तिक कहते हैं, इस प्रकार मुझ आत्मा और कैलाशचन्द्र के उठने के, अर्थात् भिन्न–भिन्न पदार्थों के स्वतन्त्र सम्बन्ध को **निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध** कहते हैं।

प्रश्न – मुझ आत्मा व्यापक और कैलाशचन्द्र उठा व्याप्य, क्या यह व्याप्य–व्यापकपना ठीक है ?

उत्तर – ठीक नहीं हैं, क्योंकि यहाँ पर आहारवर्गणारूप कैलाशचन्द्र व्यापक और कैलाशचन्द्र उठा, व्याप्य है।

प्रश्न – कोई आत्मा व्यापक और कैलाशचन्द्र उठा व्याप्य – ऐसा ही माने तो क्या दोष आवेगा ?

उत्तर – आत्मा नष्ट होकर आहारवर्गणारूप कैलाशचन्द्र बन जावे, तो ऐसा माना जा सकता है कि मुझ आत्मा व्यापक और कैलाशचन्द्र उठा व्याप्य लेकिन ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि व्याप्य–व्यापकपना एक द्रव्य का उसकी पर्याय में ही होता है; भिन्न–भिन्न दो द्रव्यों में नहीं होता है।

प्रश्न – मैं उठा – इस वाक्य पर व्यवहार–निश्चय लगाकर बताइये ?

उत्तर – मैं उठा – ऐसा व्यवहारनय से निरूपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना। आहारवर्गणारूप कैलाशचन्द्र, उस समय पर्याय की योग्यता से उठा; मुझ आत्मा से नहीं – ऐसा निश्चयनय से निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना।

प्रश्न – मैं उठा – इस वाक्य में कितने और कौन से ? कारण कहे जाते हैं।

उत्तर – चार कारण कहे जाते हैं – (1) निमित्तकारण। (2) त्रिकाली उपादानकारण। (3) अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय क्षणिक उपादानकारण। (4) उस समय पर्याय की योग्यता, क्षणिकउपादानकारण।

वाह...! मुक्ति का मार्ग... उसकी भी कोई परम अचिन्त्य महिमा है...! तथा जिस आत्मस्वभाव में से वह मार्ग प्रगट होता है, उसकी महिमा की तो क्या बात...! उस स्वभाव को लक्ष्यगत करने से उसकी परम महिमारूप भक्ति जागृत होती है और परिणाम उसमें एकाग्र होकर, उसे ही भजते हैं; उस भक्ति द्वारा जीव, परम आनन्दमय मोक्षपद को प्राप्त करता है।

मङ्गल समर्पण

मैं उठा– इस वाक्य में — (क) आत्मा का ज्ञान व राग, निमित्तकारण है। (ख) आहारवर्गणारूप कैलाशचन्द्र, त्रिकाली उपादानकारण है। (ग) मानों दस नम्बर पर उठनेरूप पर्याय हुई तो अनन्तपूर्व क्षणवर्ती पर्याय नौ नम्बर क्षणिक उपादानकारण है। (घ) कैलाशचन्द्र के उठनेरूप कार्य, उस समय पर्याय की योग्यता, क्षणिक उपादानकारण है। यही कार्य का सच्चा कारण है।

A) मैं उठा – इस वाक्य में मुझ आत्मा का ज्ञान और राग जो निमित्त कारण; आहारवर्गणारूप कैलाशचन्द्र त्रिकाली उपादानकारण; अनन्तर –पूर्वक्षणवर्तीपर्याय; वह उठने का सच्च्चा कारण क्यों नहीं है ?

उत्तर – A) निमित्त और उपादान का द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव सर्वथा पृथक–पृथक है और दोनों का समय एक ही है। **अतः आत्मा का ज्ञान–राग, कैलाशचन्द्र के उठने का सच्चा कारण नहीं है।**

B) कार्य एक समय का है; अतः यदि त्रिकाली उपादानकारण, सच्चा कारण हो, तो उठनेरूप कार्य अनादि–अनन्त होना चाहिए – **सो है नहीं।**

C) कार्य स्वयं एक समय का सत् है। वह अनन्तरपूर्व क्षणवर्तीपर्याय में से आवे – ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव में से भाव की उत्पत्ति नहीं होती है तथा पर्याय में से पर्याय नहीं आती हैं; इसलिए अनन्तरपूर्व क्षणवर्ती पर्याय भी कैलाशचन्द्र के उठनेरूप कार्य का सच्चा कारण नहीं है।

इस प्रकार वास्तव में कैलाशचन्द्र के उठनेरूप कार्य का सच्चा कारण उस समय पर्याय की योग्यता क्षणिकउपादानकारण ही है।

प्रश्न – इसे जानने–मानने से क्या लाभ रहा ?

उत्तर – जैसे, कैलाशचन्द्र के उठनेरूप कार्य का सच्चा कारण उस समय पर्याय की योग्यता ही है, वैसे ही विश्व में जितने कार्य हैं, वे सब उस समय पर्याय की योग्यता से हो चुके हैं, हो रहे हैं और होते रहेंगे – इतना जानते–मानते ही धर्म की प्राप्ति होकर क्रम से मोक्ष का पथिक बन जाता है।

याद रहे – श्रीप्रवचनसार, गाथा 65 में कहा है कि प्रथम, उत्पाद निरपेक्ष है – यह सिद्ध करो; फिर अभावरूप कारण क्या है, त्रिकालीकारण कौन है और निमित्तकारण होता ही है – यह ज्ञान करने की अपेक्षा है। ●●

जगत के अभिप्राय की ओर देखकर जीव ने पदार्थ का बोध पाया है। ज्ञानी के अभिप्राय की ओर देखकर पाया नहीं है। जिस जीव ने ज्ञानी के अभिप्राय से बोध पाया है, उस जीव को सम्यग्दर्शन होता है।

– **श्रीमद् राजचन्द्र**